कथान्तर

सम्पादक

डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव

एवं

डॉ० (श्रीमती) गिरीश रस्तोगी

प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली ० पटना

अनुक्रम

कथान्तर

भूमिका

हिन्दी कहानी : ऐतिहासिक नवीनता की पहचान

'कहानी' नामक साहित्यिक विधा को हिन्दी के नये साहित्येतिहास में यथेष्ट प्रतिष्ठा या स्वीकृति मिल गयी हो, साहित्य-शिक्षा-संसार में उसके प्रति दृष्टि बहुत नहीं बदली है। आज भी बहुतों के लिए कहानी मनुष्य की व्यस्त दिन-चर्या में क्षणिक मनोरंजन का साधन है—पढ़कर अलग हो लेने की चीज है। विडम्बना यह है कि साहित्य के विद्यार्थियों के लिए भी कहानी-पाठ की आवश्यकता 'कथानक' जान लेने तक सीमित है और कहानी की नयी समीक्षा में कथानक-पद पुनः परिभाषित होने के बाद भी प्रायः घटनाओं के निष्क्रिय-सपाट संग्रह का पर्याय समझा जाता है। आवश्यकता इस बात की है कि इस साहित्य-रूप को व्यापक और समग्र ऐतिहासिक परिदृश्य में देखा जाय ताकि उसकी वस्तुगत या रूपगत नवीनता का सार्थक ऐतिहासिक आधार भी स्पष्ट हो सके।

इसमें सन्देह नहीं, कि कविता आदि साहित्य-रूपों की तुलना में कहानी नयी विधा है और हिन्दी में उसके विकास की सभी दिशाएँ इसी बीसवीं सदी के साठ-सत्तर वर्षों में स्पष्ट हुई हैं। दूसरी ओर मौखिक कहानी के आधार-रूप या प्रवृत्ति को देखें तो यह मनुष्य की सहज प्रकृति से सम्बद्ध है। कहानी अपने कहे जाने के ढंग में ही एक सीधा सम्प्रेषण है। प्रयोजन की भिन्नता के कारण रूप की भिन्नता प्राचीन कथा-साहित्य में भी जब-तब लक्ष्य की जा सकती है। कहानी की भारतीय परम्परा को ऋग्वेद से लेकर धर्मसूत्रों, जातक कथाओं, पुराख्यानों तक खींचकर ले जाने से परम्परा के विस्तार का सन्तोष हो सकता है, इस साहित्यिक विधा की हमारी जानकारी या समझ में कोई वृद्धि

होगी, इसमें सन्देह है। गुणाढ्य की वृहत्कथा और सुबन्धु की वासवदत्ता से भी हिन्दी कहानी की पहचान कुछ विशेष जुड़ती नहीं है। जिस भारतेन्दु-युग से आधुनिकता का आरम्भ माना जाता है, उसी में हिन्दी कहानी के आरम्भ के रोचक और महत्त्वपूर्ण तथ्य छिपे हुए हैं। भारतेन्दु-युग से पहले इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' इसलिए ध्यान आकृष्ट करती है कि इसकी भाषा में एक चतुर लचीला ठेठपन है, जो कहानी के वक्तव्य के अनुकूल है।

भारतेन्दु-युग में जब हिन्दी कहानी ने सीमित अर्थ में ही सही, एक प्रकार की नवीनता प्राप्त की तो उसके पीछे एक पूरे समय की चेतना कार्यरत थी। सभी जानते हैं कि भारतेन्दु-युग की साहित्यिक शक्ति को जिन आन्दोलनों से उत्तेजना मिली उनमें दयानन्द का आर्यसमाज आन्दोलन, ब्रह्म-समाज का आन्दोलन, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ द्वारा पर्वत्तित धार्मिक आन्दोलन मुख्य हैं। इनके साथ ही श्रीमती एनीबेसेन्ट की थियोसोफिकल सोसायटी का महत्त्व युग की सामाजिक शिक्षा-चेतना के निर्माण-क्रम में स्पष्ट है। इन आन्दोलनों की प्रेरणा ने एक नयी साहसिकता और मूर्तिभंजकता को भी जन्म दिया। राजनीति-क्षेत्र में १८५७ की व्यापक क्रान्ति, विश्वविद्यालय स्तर पर नयी अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार, १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का गठन आदि घटनाएँ भी उस समय के लेखकों को यथार्थ-जीवन और वास्तविक समस्याओं की एक नयी पहचान दे सकीं। भारतेन्दु-युग की पत्रिकाओं में जो अनेक गद्य-रूप बिखरे हुए हैं उनमें 'कहानी' नामक विधा के आरम्भिक रूप या तात्पर्य लक्ष्य किये जा सकते हैं। कहानी की नवीनता वहीं से शुरू होती है—उसी आरम्भिक व्यंग्य से—जो समस्याओं को किसी सूक्ष्म बिन्दु पर कुछ अधिक तीक्ष्ण रूप में प्रकाशित करता है। भारतेन्दु की 'अद्भुत अपूर्व स्वप्न'-जैसी रचनाएँ कहानी और निबन्ध के मिश्रित रूप का सार्थक उपयोग करती हैं।

१९०० के बाद पहले 'सरस्वती' और फिर 'इन्दु' के प्रकाशन से कहानी के विकास और उसकी सम्भावनाओं की पहचान में एक नयी तेजी आयी। साहित्यिक महत्त्व की आरम्भिक कहानियाँ 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुई थीं जिनमें 'आख्यायिका' और 'गल्प' से प्रस्थान का सीधा क्रम छिपा हुआ था। पर प्रेमचन्द के आगमन से पहले कम कहानियों में वर्णनात्मक कुतूहल से अलग 'मार्मिक परिस्थिति की एकता' (रामचन्द्र शुक्ल) मिलती है—जिसके भीतर

अनेक संवेदनाओं का योग सारी परिस्थिति को मार्मिक रूप देने में समर्थ हो। १९०० के बाद की महत्त्वपूर्ण कहानियों में 'ग्यारह वर्ष का समय' और 'इन्दुमती' प्रमुख हैं। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल की टिप्पणी है—"···सरस्वती के तीसरे ही वर्ष मौलिक हिन्दी कहानी का आरम्भ हुआ। शिल्प की दृष्टि से प्रथम हिन्दी की मौलिक कहानी है—रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'ग्यारह वर्ष का समय'।" इस कहानी में लेखक ने रचना के घटनात्मक पक्ष को अप्रत्याशित या असाधारण रहस्यता से भरने की चेष्टा की है। 'इन्दुमती' के लेखक किशोरीलाल गोस्वामी में भी वह कलात्मक संयम अनुपस्थित है जो रहस्यमय घटनाओं को किसी नुकीले बिन्दु पर प्रकाशित कर सकता था।

जयशंकर प्रसाद और उनके समकालीन कहानीकारों की अनेक महत्त्वपूर्ण कहानियाँ 'इन्दु' में प्रकाशित हुईं। प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' 'इन्दु' में ही प्रकाशित हुई। प्रसाद, हृदयेश, विश्वम्भरनाथ जिज्जा की कहानियों की आरम्भिक बनावट पर ध्यान दें तो उद्भावित 'वातावरण' अतिरिक्त, अलंकृत या अर्थहीन प्रस्तावना-सा जान पड़ेगा। प्रत्यक्ष है कि प्रेमचन्द से पहले की कहानी के घटनाबहुल इतिवृत्तात्मक ढाँचे में उस संवेदनीयता का विकास नहीं हो सका है जिसे आचार्य शुक्ल काव्यसमीक्षासंस्कार के आग्रह से उचित ही 'मार्मिक परिस्थिति की संश्लिष्ट एकता' के रूप में देखते हैं।

प्रेमचन्द-युग में आकर हिन्दी कहानी पहली बार मानव परिवेश और मानवीय व्यवहार को राजनीतिक-सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों के निकट देखती है और नये सहानुभूतिपूर्ण विवेक से आदर्श और वास्तविकता के द्वन्द्व को पहचानना चाहती है। प्रेमचन्द जब जीवन के यथार्थ के स्वाभाविक चित्रण को आख्यायिका का ध्येय[1] बताते हैं तो उनकी दृष्टि परिवेश की वास्तविकता पर अनिवार्यतः बनी रहती है। प्रेमचन्द-युग का साहित्य प्रथम महायुद्ध के बाद का

---

१. "वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम और अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है। इतना ही नहीं, बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।"

—साहित्य का उद्देश्य : प्रेमचन्द : पृष्ठ ४१

साहित्य है। भारत की जनता सीधे इस युद्ध में सम्मिलित न रही हो, पर युद्ध के आर्थिक प्रभावों से वह बच नहीं सकी थी। भयानक आर्थिक मन्दी ने उसके लिए निराशा की छाया कुछ और घनी कर दी थी। साम्राज्यवादी शासन और शोषण के विरुद्ध आगे के वर्षों में प्रतिक्रिया तेज हुई। तिलक की मृत्यु (१९२०) के बाद कांग्रेस का नेतृत्व जब गाँधीजी के हाथ आया तो एक व्यापक परिवर्तन भारतीय जनमानस में लक्षित हुआ। कांग्रेस में निम्नमध्यवर्ग को पहली बार महत्त्वपूर्ण भूमिका मिली। जन-आन्दोलन शुरू हुए जिनमें हिन्दू-मुसलमान अलग नहीं थे। किसान-मजदूर इस आन्दोलन में आने लगे थे। इसी बीच '२२-'२३ में साम्प्रदायिक दंगे हुए। शासन ने नृशंस दमन का रास्ता अपनाया। आन्दोलन की जड़ें इससे मजबूत हुईं, पर शोषण के तरीके अधिक सूक्ष्म होने लगे थे। नेहरू राजनीति में आ चुके थे। '३० में पूर्ण स्वाधीनता की माँग की गयी। कुछ परिणाम न हुआ। तभी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन हुआ। कांग्रेस से कांग्रेस-समाजवादी और साम्यवादी दल अलग हुए। दमन की प्रतिक्रिया अधिक गहरी हुई। महाजनी सभ्यता और पूँजीवाद के रिश्तों की समझ इस बीच बढ़ी और लेखन में स्पष्ट हुई तो उसके पीछे भारतीय सामाजिक जीवन-संक्रमण के उपर्युक्त तथ्य थे।

कहानी में 'मार्मिक परिस्थिति की एकता' का संकेत हम पहले कर आये हैं। यहाँ कुछ कहानियों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' १९११ में और प्रेमचन्द की पहली हिन्दी कहानी 'पंचपरमेश्वर' (इससे पहले की कहानियाँ उर्दू में ही लिखी गयीं) १९१६ में प्रकाशित हुई थी। इनके बीच 'कानों में कँगना' (राधिकारमण प्रसाद सिंह), 'रक्षाबन्धन' (विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक), 'उसने कहा था' (चन्द्रधर शर्मा गुलेरी) आदि कहानियाँ प्रकाशित हुईं। 'उसने कहा था' कहानी के भीतर घटित होनेवाले जीवन-प्रसंगों का समय लम्बा है, पर स्मृति-विधान के उपयोग से बिखरे हुए तथ्यों के बीच एक अपूर्व मार्मिक अन्तर्गठन सम्भव हो सका है। इस कहानी की नवीनता—ऐतिहासिक नवीनता निर्विवाद है। प्रेमचन्द कहानी का आधार आगे चलकर घटना नहीं, अनुभूति को बताने लगे थे—पर इस नतीजे पर आने से पहले वह अनेक विवरणात्मक, स्थूल अर्थ में सुधारवादी या आदर्शवादी कहानियाँ लिख चुके थे। विकास के दूसरे चरण में प्रेमचन्द ने 'शतरंज के

खिलाड़ी' और 'मुक्ति का मार्ग'-जैसी कहानियाँ लिखीं (जिनमें कहानी 'जीवन से बहुत निकट आ गयी है' और कई रसों, कई घटनाओं, कई चरित्रों की जगह 'आत्मा की एक झलक के सजीव मर्मस्पर्शी चित्रण' को महत्त्व देने लगी है।) और तीसरे तथा अन्तिम चरण में 'पूस की रात' और 'कफ़न'-जैसी कहानियाँ लिखीं जो ऐतिहासिक निराशा के अनुभव को यथार्थ की स्वीकृतिमूलक पहचान के धरातल पर व्यक्त करती हैं। आदर्श के फार्मूले पीछे छूट गये हैं। यथार्थ का निर्मम स्वीकार कहानी के रूपगठन में भी एक नवीनता ला देता है। कुछ आश्चर्य नहीं कि इधर के आलोचक 'कफ़न' को ही 'हिन्दी की पहली नयी कहानी' कहने लगे हैं। मनुष्य के अमानवीकरण की चर्चा अभी पिछले दिनों हिन्दी नवलेखन के सन्दर्भ में की गयी है। 'कफ़न' के पाठक कहानी को इसी अमानवीकरण के पहले आघात के रूप में देख सकते हैं। कहानी के आरम्भ में एक स्त्री की मृत्यु हो रही है और उसके निकटतम घीसू और माधव मृत्यु को पहले से स्वीकार किये बैठे हैं—उनकी निश्चिन्तता को प्रेमचन्द हल्के, अगंम्भीर ढंग से इस रूप में दिखाते हैं मानो वह हास्यविनोद का प्रसंग हो—पर पूरी बनावट पर ध्यान दें तो हास्य-व्यंग्य और करुण के दुर्लभ संयोग से ही यहाँ एक वस्तु-स्थिति की पहचान करायी गयी है। 'पूस की रात' में जो यथार्थ मुन्नी के मुख पर उदासी का कारण है, वही हल्कू की प्रसन्नता का कारण भी है। यथार्थ के प्रति स्वीकार का भाव यहाँ एक नयी तटस्थता लिये हुए है।

प्रेमचन्द के समकालीन प्रसाद की कहानियाँ अतीत को कल्पना और कवि-दृष्टि से अनुभव का हिस्सा बनाती हैं और चरित्रों के अन्तर्द्वन्द्व की पहचान में अधिक सफल जान पड़ती हैं। प्रसाद की आरम्भिक कहानियों में कहीं संयोग से करुण प्रभाव की सृष्टि (ग्राम) है तो कहीं प्रेम से बलिदान तक की अतिरंजित भावुकता (रसिया बालम)। मानवहृदय की रहस्यमयता की पहचान आगे की कहानियों का वैशिष्ट्य है। व्यक्ति के मानसिक आघात-प्रत्याघात की तीखी पकड़ 'आकाशदीप' और 'पुरस्कार'-जैसी कहानियों में प्रत्यक्ष है। कोमलता और करुणा की पहचान 'गुण्डा' और 'मधुआ'-जैसी कहानियों में कुछ अलग बन पड़ी है। 'आकाशदीप' के अन्तःसंघर्ष की प्रस्तुति में वह सघन कवित्व है जो पहले ही वाचन में अपने सभी स्तर अनावृत नहीं कर जाता।

प्रेमचन्द की रचना-पद्धति और दृष्टि ने जिन कहानीकारों को प्रभावित

किया, उनमें विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, ज्वालादत्त शर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि के नाम लिये जा सकते हैं। कौशिक की 'ताई', 'इक्केवाला', 'वह प्रतिमा', 'अशिक्षित का हृदय' आदि कहानियों के पाठक देख सकते हैं कि वह कहानी में वर्णित कथाप्रसंगों और सम्बद्ध घटनासूत्रों को अपर्याप्त मानकर स्वयं बीच-बीच में टिप्पणी देते चलते हैं। उनकी कहानियों के अस्वाभाविक मोड़ भी पहले से ही पाठकों की कल्पना में सरलीकृत होकर उभरने लगते हैं। सुदर्शन और भगवती प्रसाद वाजपेयी में वह आदर्शवादी भावुकता भी है जो चरित्रों के पूर्ण परिचय के पहले ही उन्हें रोक लेती है। कल्पना और काव्यत्व की भूमि पर टिकी विनोदशंकर व्यास और रायकृष्णदास की कहानियाँ प्रसाद का प्रभाव प्रदर्शित करती हैं। 'गहुला', 'प्रसन्नता की प्राप्ति', 'अन्तःपुर का आरम्भ', 'कला और कृत्रिमता'—रायकृष्णदास की ये कहानियाँ प्रतीकों के चयन और निर्वाह में सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्नता का परिचय देती हैं। चतुरसेन शास्त्री ने स्वीकार किया है कि उनका आकर्षण 'कल्पना' की विशाल भूमि के प्रति है और वह अपनी कहानी के साथ बहुत काल तक रहते हैं जब तक कहानी और कहानीकार का 'मैं' एक नहीं हो जाते। (बाहर भीतर, पृष्ठ १४) नन्द दुलारे वाजपेयी ने बेचन शर्मा 'उग्र' की 'क्रान्तिकारी' कहानियों को ध्यान में रखते हुए उन्हें 'हिन्दी का पहला प्रमुख राजनीतिक कहानीलेखक' कहा है। उग्र का यथार्थ ज्ञान उनके समकालीनों की तुलना में भिन्न प्रकार का है। समाज के कुत्सित अंगों के चित्रण में वह एक नये साहस का परिचय देते हैं।

'३० के आसपास हिन्दी कहानी में एक ओर बाह्य वास्तविकता को एक राजनीतिक विचारदर्शन के अनुरूप देखने की प्रवृत्ति विकसित हुई, दूसरी ओर आभ्यन्तर मन की गहनता के प्रत्यक्षीकरण में रुचि बढ़ी। मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणवाद युक्तियाँ हैं—पर उनका प्रभाव कहानी की उपर्युक्त दोनों रुझानों पर स्पष्ट है। मार्क्सवाद को आधार बनाकर कहानी में परिस्थिति और पात्र के यथार्थ को निर्मम व्यंग्य से उद्घाटित करनेवाले लेखकों में यशपाल अग्रणी हैं। 'डिप्टी साहब', 'धर्मरक्षा', '८०/१००', 'फूलों का कुरता', 'ज्ञानदान' उनकी तेज़ व्यंग्यवाली कहानियाँ हैं जिनका अन्त प्रायः एक चमत्कारप्रद आघात के साथ होता है। मन में शंका उद्वेलित करने को जैनेन्द्र अपनी कहानियों का इष्ट मानते हैं। आश्चर्य नहीं कि मनोविश्लेषणशास्त्र की निरी युक्तियाँ

विस्तृत विश्लेषण के साथ उनकी कहानियों पर घटायी जा चुकी हैं। 'एक रात' शीर्षक लम्बी कहानी की भूमिका में जैनेन्द्र लिखते हैं, "मैं किसी ऐसे व्यक्ति को नहीं जानता जो मात्र 'लौकिक' हो और जो सम्पूर्णता से शारीरिक धरातल पर ही रहता हो। सबके भीतर हृदय है जो सपने लेता है। सबके भीतर आत्मा है जो जगती रहती है जिसे शस्त्र छूता नहीं, आग जलाती नहीं।" जैनेन्द्र की कठिनाइयाँ कहाँ हैं—पाठक देख सकते हैं, पर यह निर्विवाद है कि अन्त:निरीक्षण की प्रक्रिया में जैनेन्द्र ने कहानी को एक नया शिल्प दिया। 'पत्नी', 'जाह्नवी', 'पाजेब', 'ग्रामोफोन का रेकार्ड', 'नीलम द्वीप की राजकन्या'—कहानियों के अपने रहस्य हैं जिनमें सबकुछ कहा नहीं गया है। अवश्य ही जहाँ आत्मप्रक्षेप की प्रवृत्ति बढ़ गयी है वहाँ जैनेन्द्र का अपने ही पात्रों पर भरोसा कम हो गया है। अज्ञेय इस धारा के अन्य महत्त्वपूर्ण लेखक हैं जिनके लिए यथार्थ इकहरा या सपाट या एक-स्तरीय नहीं है। 'रोज़' या 'गैंग्रीन' शीर्षक कहानी के पाठक उनकी स्थापना के अनुरूप ही देख सकेंगे कि "कला में यथार्थ हमेशा संवेदना से छन-कर आता है।" (छोड़ा हुआ रास्ता/अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, भाग १, पृष्ठ १४) 'पगोडा वृक्ष', 'पुरुष का भाग्य', 'पठार का धीरज,' 'साँप', 'कोठरी की बात' कहानियाँ अज्ञेय की मनोवैज्ञानिक अनुभूति और कवि-दृष्टि का परिणाम हैं। उनमें रूपगत नवीनता और विविधता (ऐतिहासिक/ आत्म-कथात्मक/नाटकीय/डायरी/पत्रात्मक...) प्रत्यक्ष है। यथार्थ को पकड़ने के लिए यथार्थवादी दृष्टि का परित्याग—यही अज्ञेय की दृष्टि में आधुनिक साहित्य का सबसे महत्त्वपूर्ण मोड़ रहा है। मनोवैज्ञानिक कहानियों की धारा को इसी ऐति-हासिक नवीनता की भूमिका में देखना आवश्यक है। इस धारा के तीसरे प्रमुख कहानीकार इलाचन्द्र जोशी हैं जिन पर फ्रायड के मनोवैज्ञानिक चिन्तन और उनके उत्तराधिकारियों की मनोविश्लेषण-सम्बन्धी मान्यताओं का प्रभाव स्पष्ट है। उनके कथाचरित्र प्रायः रुग्ण, अहंकारी, घृणास्पद और आत्मरतिजीवी हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर लिखी गयी उनकी कहानियाँ नैतिक आत्मव्यथा और अपराध-भावना से परिचित कराती हैं। इसी कालावधि में भगवतीचरण वर्मा की व्यंग्यधर्मी कहानियाँ (दो बाँके, मुगलों ने सल्तनत बख्श दी), निराला और पन्त की यथार्थपरक और भावुकतापूर्ण कहानियाँ प्रकाशित हुईं। हल्के-फुल्के ढंग से व्यंग्य का कल्पनाप्रेरित फैलाव 'मुगलों ने सल्तनत बख्श दी'-

जैसी कहानियों का अपना गुण है।

उपेन्द्रनाथ अश्क सामाजिक वास्तविकता के अन्तर्विरोधों के भीतर व्यक्ति-मन की बुनावट को अपने ढंग से देखनेवाले कहानीकार हैं जिन्होंने शिल्प की उपेक्षा नहीं की है, पर शिल्प को ही कहानी का सबकुछ नहीं मान लिया है। विष्णु प्रभाकर, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, भैरव प्रसाद गुप्त, रांगेय राघव, अमृत लाल नागर, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', राधाकृष्ण, चन्द्रकिरण सौनरिक्सा ने जो कहानियाँ लिखीं वे मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणशास्त्र की निरी युक्तियों से बाहर अपने वस्तुज्ञान को अपनी रूपगत पहचान देने में संलग्न थीं। इनमें से कुछ ने रोमांस की भावुकता तक ही अपने को सीमित किया जबकि दूसरों ने मनोग्रन्थियों के समाजशास्त्र से अपना सरोकार बनाया।

स्वतन्त्रताप्राप्ति के बाद के वर्षों में कहानी-क्षेत्र में 'नयी कहानी' को एक आन्दोलन-जैसी मान्यता मिली—यह स्थिति 'नयी कविता' की प्रतिक्रिया मात्र न थी। प्रमाण हैं—फणीश्वरनाथ रेणु, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मार्कण्डेय, अमरकान्त, भीष्म साहनी, रामकुमार, निर्मल वर्मा, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, शेखर जोशी, शानी, उषा प्रियम्वदा की दर्जनों कहानियाँ—जो बदले हुए यथार्थ के साथ नये अनुभव-सम्बन्धों को अधिक प्रामाणिक और अकृत्रिम भाषा में व्यक्त करती हैं। जैनेन्द्र ने कहानीपन छोड़-कर नवीनता उत्पन्न करने की घोषणा की थी। इन लेखकों ने कहानीपन की यथासम्भव रक्षा करते हुए भी वस्तुदृष्टि और रूप की नवीनता का परिचय दिया। 'तीसरी कसम', 'रसप्रिया', 'लाल पान की बेगम'—रेणु की ये कहानियाँ ठुमरी-धर्मा कही गयी हैं क्योंकि इनका अन्तर्मार्ग एक ही है। इन कहा-नियों की आंचलिक विशिष्टता को नामवर सिंह ने एक नये रोमांटिक उत्थान के अंग के रूप में देखा है। खेतों से धान के झरते फूलों की गन्ध और गौने की साड़ी से निकलती एक खास किस्म की गन्ध 'लालपान की बेगम' में घुल-मिल गयी है। लालित्य सभी कहानियों को एक ही विशेष मुहूर्त से ला टिका देता है—प्रतीक्षा और प्रतीक्षा का अन्त—और फिर प्रतीक्षा—इन कहानियों के पाठक इन्हीं दायरों में आते-जाते रहते हैं। आगे की 'अगिनखोर' और 'भित्तिचित्र की मयूरी'-जैसी कहानियों में रेणु का स्वभाव बहुत न बदला हो—पर मौजूदा ढाँचे के प्रति तल्ख़ प्रतिक्रिया—भोथरी होती

संवेदना को हल्के आघात से जगा देने की इच्छा इधर की कहानियों में स्पष्ट है। धर्मवीर भारती 'गुलकी बन्नो'-जैसे चरित्रों की सृष्टि करते हुए मानव-यातना के प्रति एक गहरी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया को जागरूक बनाते हैं। नयी कहानी—इस पूरे दौर में वे चरित्र सामने आते हैं जो चरित्र से अधिक 'आज की ऐतिहासिक शक्ति के प्रतीक' कहे गये हैं—जैसे, रांगेय राघव की गदल, मार्कण्डेय के 'गुलरा' के बाबा, 'हंसा जाई अकेला' वाले हंसा, शिवप्रसाद सिंह की 'कर्मनाशा की हार' वाले भैरो पांडे...। यह सूची कुछ दूर तक बढ़ायी जा सकती है। पर अमरकान्त और मार्कण्डेय-जैसे कहानीकारों के यहाँ चरित्रों की नयी पहचान परिस्थिति और परिवेश के समग्र वास्तव ज्ञान का ही अंग है। अमरकान्त की 'ज़िंदगी और जोंक', 'डिप्टी कलक्टरी', 'हत्यारे', 'दोपहर का भोजन' बहुचर्चित कहानियाँ हैं जिनमें यथार्थ की विवरण-सापेक्षता और वस्तु-गत रहस्यमयता अभिन्न है। मार्कण्डेय ने ग्रामकथा को यथार्थ के परिवर्तित सम्बन्धों-सन्दर्भों की जटिलता से सम्पन्न बनाया है। संघर्ष की ऐतिहासिक चेतना 'भूदान' और आगे की कहानियों में प्रत्यक्ष है।

मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और कमलेश्वर की चर्चा 'नयी कहानी'-आन्दोलन में विशेष रूप से हुई जिसका कारण इनके रचना-संसार में नहीं, स्वयं आन्दोलन की गतिविधि में ही निहित है। कहानियाँ प्रमाण हैं कि इनका रचना-संसार एक-दूसरे से स्पष्टतः भिन्न है। 'मलबे का मालिक', 'मिस पाल', 'आर्द्रा' आदि कहानियों के लेखक मोहन राकेश ने बहुस्तरीय यथार्थ को व्यक्ति की दृष्टि से (अर्थात् व्यक्ति की दृष्टि को ही प्रमुखता देते हुए) देखा है। राजेन्द्र यादव की कहानियाँ ('खेलखिलौने', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है', 'प्रतीक्षा', 'टूटना', 'खुशबू') शिल्पगत सतर्कता के बीच एक प्रकार की मानसिक जटिलता से परिचित कराती हैं। राजेन्द्र यादव के लिए कहानीकार की समस्या विषय-बोध से पहले अपने अस्तित्व-बोध की है—जीवन और परिवेश के प्रति उसकी धारणा और दृष्टिकोण की है। (एक दुनिया समानान्तर, पृष्ठ ५१) कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया'-जैसी कहानी ने ऐतिहासिक दृष्टि और नये (लोक-कथाश्रित) रूपबन्ध का आभास दिया था। इस कहानी में लोककथा की पृष्ठ-भूमि का उपयोग करते हुए मध्यवर्गीय परिवार की वास्तविकता को अभिव्यक्ति दी गयी है। यह रूप की ही नहीं, दृष्टि की नवीनता है जिसके चलते कहानी

अर्थ के कई पार्श्व उद्घाटित कर सकी है। कमलेश्वर की आगे की कहानी 'दिल्ली में एक मौत' महानगरीय परिवेश में मनुष्य के भयावह अमानवीकरण की कहानी है। स्वल्पकथन की यथातथ्यता परिस्थिति की व्यंग्यात्मक क्रूरता को उजागर करती है। भीष्म साहनी की 'चीफ़ की दावत' की माँ चरित्र के रूप में एक चुनौती है—हर अटपटे सामान को छिपा लेने की सजग चतुर युक्ति सोच लेने पर शामनाथ का ध्यान बूढ़ी माँ की ओर जाता है तो वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। सामान की स्थिति में आते ही माँ दयनीय चाहे अधिक हो उठी हों, पर यहीं उनका अस्तित्व बड़ी प्रश्नात्मकता से जुड़ गया जिससे चीफ़ का परिचित होना शामनाथ के लिए हितकर ही सिद्ध हुआ। इन जीते-जागते चरित्रों को लक्ष्य कर ये प्रश्न उठे हों तो इन्हें ऐतिहासिक समझ का ही परिणाम माना जायेगा—"परम्परा के रक्षक चाहें तो इन्हें 'चरित्रप्रधान' कहानी के वर्ग में रखकर सन्तोष कर सकते हैं, किन्तु इस ऐतिहासिक परिवर्तन की उनके पास क्या व्याख्या है कि एकसाथ पूरी-की-पूरी पीढ़ी सीधे जीते-जागते चरित्रों के अंकन की ओर चल पड़ी ? नये कहानीकारों ने अपने 'निजी अनुभवों' का ही सहारा लेने का निश्चय क्यों किया ? इन लेखकों ने किसी बनी-बनायी विचारधारा को ज्यों-का-त्यों मानकर कहानियाँ क्यों नहीं बनायीं ? क्या यह एक 'प्रामाणिकता' की खोज नहीं है ?" (नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति/सं० देवीशंकर अवस्थी/पृष्ठ २३७)

निर्मल वर्मा की दृष्टि में अगर नयी कहानी कुछ हो सकती है तो सिर्फ अँधेरे में एक चीख। कहानी का विषय न छोटा होता है न बड़ा—बड़ी या छोटी होती है कहानी के पीछे सक्रिय सृजनात्मक प्रेरणा। एक ओर निर्मल के कहानी-साहित्य में 'परिन्दे'-जैसी गीतिधर्मी कहानियाँ हैं जिनमें चरित्र, वातावरण, कथानक अनुभव की भीतरी लय में रच गये हैं, घुल-मिल गये हैं, दूसरी ओर 'लन्दन की एक रात'-जैसी कठोर वस्तुबोध की कहानियाँ हैं जिनमें एक प्रकार की औपन्यासिकता है। इनसे अलग 'पहाड़'-जैसी सादगी में ही विशिष्ट सांकेतिक अभिप्राय का निर्वाह करनेवाली कहानियाँ हैं। सीधी-सादी शब्दावली में मानसिक स्थिति का गहन प्रत्यक्षीकरण रामकुमार की 'समुद्र'-जैसी कहानियों में लक्ष्य किया जा सकता है। रामकुमार की कहानियाँ प्रायः अतीत की ओर—स्मृति की ओर लौटती हैं पर भावुकता से अनिवार्यतः बचकर। उषा

प्रियम्वदा की कहानियाँ मनुष्य की स्वाभाविक ज़िन्दगी और उसकी ज़रूरतों को लेकर लिखी गयी हैं और वे ज़िन्दगी के बारे में कोई बुनियादी प्रश्न भी नहीं उठातीं, पर जिस एक विशेषता के कारण 'वापसी'-जैसी कहानियों ने श्रेष्ठ नयी कहानियों में जगह बना ली वह थी—'भावनाओं को बिना कुण्ठित किये भी नियन्त्रित रख सकने की रचनात्मक क्षमता'। रूप की दृष्टि से 'वापसी' पुरानी कहानी के निकट है पर दृष्टि की तटस्थता, यथार्थ का स्वीकार इस रूप में एक नये लेखक के ही गुण हो सकते हैं। रोमांटिक भावबोध की तुलना में इस ग़ैर-रोमांटिक भावबोध को रघुवीर सहाय की 'सेब'-जैसी कहानियाँ अधिक सूक्ष्मता और मानसिक परिपक्वता के आधार पर व्यक्त करती हैं। सहानुभूति जहाँ शब्दों में आते-आते व्यर्थ हो जाती है और अभिव्यक्ति के साझे में विफल मनुष्य को अपनी असहायता का अनिवार्य बोध करा जाती है—वहाँ रघुवीर सहाय का रचनात्मक संयम देखने योग्य है। 'रास्ता इधर से है' संग्रह की कहानियाँ सर्जनात्मक भाषा की बड़ी मुक्ति का साक्ष्य उपस्थित करती हैं।

'६० के आसपास उभरनेवाले कहानीकारों की नयी पीढ़ी निस्सन्देह अधिक खरी, प्रश्नात्मक दृष्टि का परिचय देती है। पिछली पीढ़ी में ऐतिहासिक मोह-भंग के अहसास की चर्चा की गयी है। इस युवा पीढ़ी की स्थिति इस अर्थ में बिल्कुल भिन्न है कि उसके इर्दगिर्द मोह की दुनिया प्रायः बनी ही नहीं। इससे युवा कहानीकारों की निस्संगता '४० के बाद के लेखकों की निस्संगता से अलग है। ज्ञानरंजन की 'घण्टा', 'बहिर्गमन', काशीनाथ सिंह की 'सुख', 'आखिरी रात', दूधनाथसिंह की 'रक्तपात', प्रबोधकुमार की 'गाँठ', रवीन्द्र कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी', महेन्द्र भल्ला की लम्बी कहानी 'एक पति के नोट्स'—ये कहानियाँ न केवल युग के नये भयावह विडम्बनापूर्ण सम्बन्धों का साक्षात्कार करती हैं, बल्कि आवश्यकता के अनुरूप एक नये 'गद्य' का आविष्कार भी करती हैं। 'अकहानी' और 'सचेतन' कहानी-जैसे आन्दोलनों का शोर थम जाने के बाद आज की कहानी अधिक बुनियादी प्रश्नों और परिवर्तनों के प्रति सचेत कही जा सकती है, पर उसे अपने ही मुहावरे में निर्मित सम्बन्ध-रूढ़ियों से निकलने की आवश्यकता है। गंगाप्रसाद विमल, गिरिराज किशोर, विजय मोहन सिंह, गोविन्द मिश्र, ममता कालिया, विजय चौहान, प्रयाग शुक्ल आदि

की कहानियाँ आज के जटिल सन्दर्भों को अपने-अपने ढंग से चित्रित करती हैं। पहले से लिख रहे लेखकों में शैलेश मटियानी और हृदयेश आदि की कहानियाँ अनुभव की तात्कालिकता में कभी सपाट और कभी मार्मिक देखी जा सकती हैं। नरेश मेहता, सर्वेश्वर और कुँवरनारायण-जैसे कवि-कहानीकारों ने काव्य-गुण-सम्पन्नता का परिचय देते हुए अपनी कहानियों में अनुभव को प्रायः वह रंग दिया है जिसे भावात्मक ज़मीन पर महसूस किया जा सके। कुँवरनारायण के संग्रह 'आकारों के आसपास' की कहानियाँ कहानी की किसी परिचित जाति को ठेस पहुँचाकर एक रचनात्मक विस्फोट का प्रमाण देती हैं।

वस्तुस्थिति का निर्मम साक्षात् ही वह भूमि है जहाँ आज की कहानी ने अपनी विशिष्ट सार्थक पहचान उपलब्ध की है। कहना न होगा कि हिन्दी कहानी के विकास के हर मोड़ पर 'नवीनता' का एक ऐतिहासिक सन्दर्भ है। इस ऐतिहासिक नवीनता की पहचान हर दौर की श्रेष्ठ प्रतिनिधि कहानियाँ कराती ही हैं—उसे देखने के लिए दृष्टि और जाँचने के लिए समझ जरूरी होगी। कहानी के तत्त्व-रूपी चौखटे इस समग्र पहचान के लिए अधूरे, अपर्याप्त सिद्ध होंगे। उन पर पुनर्विचार कहानी के आलोचकों के लिए जितना जरूरी है उतना ही पाठकों के लिए भी—कम-से-कम उन पाठकों के लिए, जो कहानी को क्षण-भर के मनोरंजन का साधन न समझकर जीवन के पुनःसाक्षात् का गम्भीर सर्जनात्मक माध्यम समझते हों और उसी के अनुरूप कहानी नामक विधा से अपना आस्वाद-सम्बन्ध बदलने के लिए प्रस्तुत हों।

उसने कहा था

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गयी है और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए, इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की उँगलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने, नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले तंग, चक्करदार गलियों में, हरएक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर, सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसाजी', 'हटो माईजी', 'ठहरना भाई', 'आने दो लालाजी', 'हटो बाछा', कहते हुए सफेद फेंटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने और खोमचे और भारे वालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती, तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—'हट जा जीणे जोगिए, हट जा करमाँ वालिए, हट जा पुत्ताँ प्यारिये, बच जा लम्बी उमराँ वालिए।' समिष्ट में इनके अर्थ हैं कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, पुत्रों को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहिये के नीचे आना चाहती है ?—बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिक्ख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था, और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेशी से गुँथ रहा था, जो सेर-भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

"तेरे घर कहाँ हैं ?"

"मगरे में—और तेरे ?"

"माझे में—यहाँ कहाँ रहती है ?"

"अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।"

"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरू बाज़ार में है।"

इतने में दुकानदार निबटा और इनको सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्कराकर पूछा, "तेरी कुड़माई हो गयी ?"

इसपर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गयी और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते हैं। महीना-भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, "तेरी कुड़माई हो गयी ?" और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध, बोली, "हाँ, हो गयी।"

"कब ?"

"कल, देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू ?"

लड़की भाग गयी। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में धकेल दिया, एक छाबड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खोयी, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उँड़ेल दिया। सामने नहा-कर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पायी। तब कहीं घर पहुँचा।

[२]

"राम-राम, यह भी कोई लड़ाई है। दिन-रात खन्दकों में बैठे-बैठे हड्डियाँ अकड़ गयीं। लुधियाना से दस गुना जाड़ा और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दीखता नहीं—घण्टे-दो-घण्टे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खन्दक हिल जाती है और सौ-सौ गज़ धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का ज़लज़ला सुना था, यहाँ दिन में पच्चीस ज़लज़ले होते हैं। जो कहीं खन्दक से बाहर साफा या कुहनी निकल गयी, तो चटाक से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खन्दक में बिता ही दिये। परसों 'रिलीफ' आ जायेगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी मेम के बाग में। मखमल की-सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, पर दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आये हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाये। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं, और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस-तीस मन के गोले फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो…"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?" सूबेदार हजारासिंह ने मुस्कराकर कहा, "लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?"

"सूबेदारजी, सच है," लहनासिंह बोला, "पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं, और खाई में दोनों तरफ से चम्बे की बावलियों के-से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाये तो गर्मी आ जाये।"

"उदमी, उठ, सिगड़ी में कोयले डाल । वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको । महासिंह, शाम हो गयी है, खाई के दरवाज़े का पहरा बदला दे ।" यह कहते हुए सूबेदार सारी खन्दक में चक्कर लगाने लगा ।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था । बाल्टी में गँदला पानी भर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला, "मैं पाँधा बन गया हूँ । करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण ।" इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गये ।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके में हाथ देकर कहा, "अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो । ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर में नहीं मिलेगा ।"

"हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है । मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमाव ज़मीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा ।"

"लाड़ी होराँ को भी यहाँ बुला लोगे ? या वही दूध पिलानेवाली फिरंगी मेम..."

"चुप कर । यहाँ वालों को शरम नहीं ।"

"देश-देश की चाल है । आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिक्ख तम्बाकू नहीं पीते । वह सिगरेट देने में हठ करती है, होंठों में लगाना चाहती है । और मैं पीछे हटता हूँ, तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुल्क के लिए लड़ेगा नहीं ।"

"अच्छा, अब बोधासिंह कैसा है ?"

"अच्छा है ।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊँ । रात-भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते हो । उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो । अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो । कहीं तुम न माँदे पड़ जाना । जाड़ा क्या है, मौत है और निमोनिया से मरनेवालों को मुरब्बे नहीं मिला करते ।"

"मेरा डर मत करो । मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा । भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी ।"

वजीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा, "क्या मरने-मारने की बात लगायी

है ? मरे जर्मन और तुरक । हाँ भाइयो, कुछ गाओ !"

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले, घरबारी सिक्ख अश्लील गीत गायेंगे, पर सारी खन्दक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये, मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

[३]

दो पहर रात गयी । अँधेरा है । सन्नाटा छाया हुआ है । बोधासिंह खाली बिस्कुटों के तीन टीनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बरानकोट ओढ़कर सो रहा है । लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है । एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर । बोधासिंह कराहा ।

"क्यों बोधा भाई, क्या है ?"

"पानी पिला दो ।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा, "कहो कैसे हो ?"

पानी पीकर बोधा बोला, "कँपनी छूट रही है । रोम-रोम में तार दौड़ रहे हैं । दाँत बज रहे हैं ।"

"अच्छा, मेरी जरसी पहन लो ।"

"और तुम ?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है, पसीना आ रहा है ।"

"ना, मैं नहीं पहनता, चार दिन से तुम मेरे लिए..."

"हाँ, याद आयी । मेरे पास दूसरी जरसी है । आज सवेरे ही आयी है । विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं । गुरू उनका भला करें ।" यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा ।

"सच कहते हो ?"

"और नहीं झूठ ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने ज़बरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ । मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी ।

आधा घण्टा बीता । इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आयी, "सूबेदार हजारासिंह !"

"कौन, लपटन साहब ? हुकुम हुज़ूर !" कहकर सूबेदार तनकर फौजी

सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी समय धावा करना होगा। मील-भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज़ियादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है, वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खन्दक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा, तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा, "लो तुम भी पियो।"

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला, "लाओ साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों-से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये?

शायद शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है। लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेण्ट में थे।

"क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायेंगे?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों, क्या यह देश पसन्द नहीं?"

"नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम-आप जगाधरी ज़िले में शिकार करने गये थे,"—"हाँ-हाँ"—"वहीं जब आप खोते पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था।"—"बेशक पाजी कहीं का"—

"सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कन्धे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ़सर के साथ शिकार खेलने में मज़ा आता है। क्यों साहब! शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न? आपने कहा था कि रेजिमेण्ट की मेस में लगायेंगे।"—"हाँ, पर मैंने वह विलायत भेज दिया।"—"ऐसे बड़े-बड़े सींग! दो-दो फुट के तो होंगे?"

"हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे; तुमने सिगरेट नहीं पिया?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ—" कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

अँधेरे में किसी सोनेवाले से वह टकराया।

"कौन? वजीरासिंह?"

"हाँ, क्यों लहना? क्या कयामत आ गयी? ज़रा तो आँख लगने दी होती।"

[४]

"होश में आओ। कयामत आयी है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आयी है।"

"क्या?"

"लपटन साहब या तो मारे गये हैं या कैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहन-कर कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा। मैंने देखा और बातें की हैं। सौहरा साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू, और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।"

"तो अब?"

"अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पलटन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खन्दक की बात झूठ है। चले जाओ। खन्दक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यह है कि यहीं···"

"ऐसी-तैसी हुकुम की। मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह, जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है—उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।"

"आठ नहीं, दस लाख। एक-एक अकालिया सिक्ख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह-जगह खन्दक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने···

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कोहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुन्दा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आख! मीन गौट्ट'[1] कहते हुए चित हो गये। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खन्दक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला, "क्यों लपटन साहब. मिज़ाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं—यह सीखा कि सिक्ख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के ज़िले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और साहब खोते पर चढ़ते हैं। पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिना डैम के पाँच लफ्ज़ भी नहीं बोल सकते थे।"

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानो जाड़े

---

१ हाय मेरे राम! (जर्मन)

से बचाने के लिए दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया, "चालाक तो बड़े हो, पर माझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है; उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों के बच्चे होने के तावीज़ बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनीवाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़-पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गौ-हत्या बन्द कर देंगे। मण्डी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपया निकाल लो, सरकार का राज्य जानेवाला है। डाकबाबू पौल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूड़ दी थी और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रखा तो···"

साहब की जेब से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया, "क्या है ?"

लहनासिंह ने उसे यह कहकर सुला दिया कि "एक हड़का हुआ कुत्ता आया था। मार दिया।"—और, औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तककर मार रहा था—वह खड़ा था, और-और लेटे हुए थे।) और वे थे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े-से मिनटों में वे···

अचानक आवाज़ आयी, "वाह गुरूजी की फतह! वाह गुरूजी का खालसा!" और धड़ाधड़ बन्दूकों के फ़ायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के

संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और, "अकाली सिक्खाँ दी फौज आयी ! वाह गुरूजी की फतह ! वाह गुरूजी का खालसा !! सतश्री अकाल पुरूख !!!" और लड़ाई खत्म हो गयी। तिरेसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहिने कन्धे में से गोली आर-पार निकल गयी। लहनासिंह की पसली में गोली लगी। उसने घाव को खन्दक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी को साफा कसकर कमरबन्द की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना को दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था। ऐसा चाँद जिसके प्रकाश से संस्कृत कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है और हवा ऐसी चल रही थी जैसे कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य' कहलाती है। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन-भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी, जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंह से सारा हाल सुन, और कागज़ात पाकर, उसकी तुरन्त बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज़ तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घण्टे के अन्दर-अन्दर आ पहुचीं। फील्ड अस्पताल नज़दीक था। सुबह होते-होते वहाँ पहुँच जायेंगे, इसलिए मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाये और दूसरी में लाशें रखी गयीं। सूबेदार ने लहना-सिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही, पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सबेरे देखा जायेगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देखकर लहना ने कहा, "तुम्हें बोधा की कसम है, और सूबेदारनी की सौगन्ध है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।"

"और तुम ?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना, और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं मैं खड़ा हूँ ?
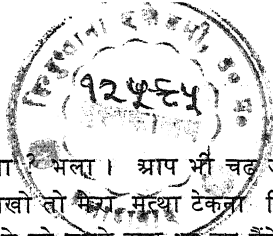
वजीरासिंह मेरे पास ही है।"

"अच्छा, पर..."

"बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा, "तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना, उसने क्या कहा था?"

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया, "वजीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबन्द खोल दे। तर हो रहा है।"

[५]

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म-भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं, समय की धुन्ध बिल्कुल उनपर से हट जाती है।

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दहीवाले के यहाँ, सब्ज़ीवाले के यहाँ, हर कहीं, उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है, तेरी कुड़माई हो गयी? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा, तो उसने कहा, 'हाँ, कल हो गयी। देखते नहीं यह रेशमी बूटोंवाला सालू।' सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

"वजीरासिंह, पानी पिला दे।"

पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफल्स में जमादार हो गया। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकदमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेण्ट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम

पर जाती है, फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हज़ारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ ही चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था, और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे तब सूबेदार बेड़े में से निकलकर आया। बोला, "लहना! सूबेदारनी तुमको जानती है, बुलाती है। जा, मिल आ।" लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती है? कब से? रेजिमेण्ट के क्वार्टरों में कभी सूबेदारनी के घर के लोग रहे नहीं। दरवाज़े पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

"मुझे पहचाना?"

"नहीं।"

"तेरी कुड़माई हो गयी—धत्—कल हो गयी—देखते नहीं, रेशमी बूटों-वाला सालू—अमृतसर में..."

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली, पसली का घाव बह निकला।

"वजीरा, पानी मिला..." 'उसने कहा था।...

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में ज़मीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों[1] की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी, जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भरती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी। 'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग। तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे

---

१. स्त्रियों

ग्रौर मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे ग्रागे मैं ग्राँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ग्रोबरी में चली गयी। लहना भी ग्राँसू पोंछता बाहर ग्राया।

"वजीरासिंह पानी पिला—" 'उसने कहा था···

लहना का सिर गोद में रखे वजीरासिंह बैठा था। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। ग्राध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला, "कौन ? कीरतसिंह ?"

वजीरा ने कुछ समझकर कहा, "हाँ।"

"भइया, मुझे ग्रौर ऊँचा कर ले। ग्रपने पट्ट[1] पर मेरा सिर रख ले।"

वजीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ, ग्रब ठीक है। पानी पिला दे। बस, ग्रबके हाड़[2] में यह ग्राम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर ग्राम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है, उतना तो यह ग्राम है। जिस महीने उसका जन्म हुग्रा था, उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वजीरासिंह के ग्राँसू टप-टप टपक रहे थे।

कुछ दिनों पीछे लोगों ने ग्रखबारों में पढ़ा—फ्रांस ग्रौर बेल्जियम, ६८वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स, जमादार लहनासिंह।

---

१. जाँघ
२. ग्राषाढ़

आकाश-दीप

जयशंकर प्रसाद

"बन्दी !"

"क्या है ? सोने दो।"

"मुक्त होना चाहते हो ?"

"अभी नहीं, निद्रा खुलने पर, चुप रहो।"

"फिर अवसर न मिलेगा।"

"बड़ा शीत है, कहीं से एक कम्बल डालकर कोई शीत से मुक्त करता।"

"आँधी की सम्भावना है। यही अवसर है। आज मेरे बन्धन शिथिल हैं।"

"तो क्या तुम भी बन्दी हो ?"

"हाँ, धीरे बोलो, इस नाव पर केवल दस नाविक और प्रहरी हैं।"

"शस्त्र मिलेगा ?"

"मिल जायगा। पोत से सम्बद्ध रज्जु काट सकोगे ?"

"हाँ।"

समुद्र में हिलोरें उठने लगीं। दोनों बन्दी आपस में टकराने लगे। पहले बन्दी ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया। दूसरे का बन्धन खोलने का प्रयत्न करने लगा। लहरों के धक्के एक-दूसरे को स्पर्श से पुलकित कर रहे थे। मुक्ति की आशा, स्नेह का असम्भावित आलिंगन। दोनों ही अन्धकार में मुक्त हो गये। दूसरे बन्दी ने हर्षातिरेक से उसको गले से लगा लिया। सहसा उस बन्दी ने कहा, "यह क्या ? तुम स्त्री हो ?"

"क्या स्त्री होना कोई पाप है ?"—अपने को अलग करते हुए स्त्री ने कहा।

"शस्त्र कहाँ है ? तुम्हारा नाम ?"

"चम्पा ।"

तारक-खचित नील अम्बर और नील समुद्र के अवकाश में पवन ऊधम मचा रहा था । वह दुष्ट हो रहा था । समुद्र में आन्दोलन था । नौका लहरों में विकल थी । स्त्री सतर्कता से लुढ़कने लगी । एक मतवाले नाविक के शरीर से टकराती हुई सावधानी से उसका कृपाण निकालकर, फिर लुढ़कते हुए, बन्दी के समीप पहुँच गयी । सहसा पोत से पथप्रदर्शक ने चिल्लाकर कहा—"आँधी !"

आपत्तिसूचक तूर्य बजने लगा । सब सावधान होने लगे । बन्दी युवक उसी तरह पड़ा रहा । किसी ने रस्सी पकड़ी, कोई पाल खोल रहा था । पर युवक बन्दी ढुलककर उस रज्जु के पास पहुँचा जो पोत से संलग्न थी । तारे ढँक गये । तरंगें उद्वेलित हुईं, समुद्र गरजने लगा । भीषण आँधी पिशाचिनी के समान नाव को अपने हाथों में लेकर कन्दुक-क्रीड़ा और अट्टहास करने लगी ।

एक झटके के साथ ही नाव स्वतन्त्र थी । उस संकट में भी दोनों बन्दी खिलखिलाकर हँस पड़े । आँधी के हाहाकार में उसे कोई न सुन सका ।

[२]

अनन्त जलनिधि में ऊषा का मधुर आलोक फूट उठा । सुनहली किरणों और लहरों की कोमल सृष्टि मुस्कराने लगी । सागर शान्त था । नाविकों ने देखा, पोत का पता नहीं । बन्दी मुक्त हैं ।

नायक ने कहा, "बुद्धगुप्त ! तुमको किसने मुक्त किया ?"

कृपाण दिखाकर बुद्धगुप्त ने कहा, "इसने ।"

नायक ने कहा, "तो तुम्हें फिर बन्दी बनाऊँगा ।"

"किसके लिए ? पोताध्यक्ष मणिभद्र अतल जल में होगा—नायक ! अब इस नौका का स्वामी मैं हूँ ।"

"तुम ? जलदस्यु बुद्धगुप्त ? कदापि नहीं ।"—चौंककर नायक ने कहा और अपना कृपाण टटोलने लगा । चम्पा ने इसके पहले उस पर अधिकार कर लिया था । वह क्रोध से उछल पड़ा ।

"तो तुम द्वन्द्वयुद्ध के लिए प्रस्तुत हो जाओ, जो विजयी होगा, वही स्वामी होगा ।" इतना कह बुद्धगुप्त ने कृपाण देने का संकेत किया । चम्पा ने कृपाण

नायक के हाथ में दे दिया।

भीषण घात-प्रतिघात आरम्भ हुआ। दोनों कुशल, दोनों त्वरित गतिवाले थे। बुद्धगुप्त ने अपना कृपाण दाँतों से पकड़कर अपने दोनों हाथ स्वतन्त्र कर लिये। चम्पा भय और विस्मय से देखने लगी। नाविक प्रसन्न हो गये। परन्तु बुद्धगुप्त ने लाघव से नायक का कृपाणवाला हाथ पकड़ लिया और विकट हुंकार से दूसरा हाथ कटि में डाल, उसे गिरा दिया। दूसरे ही क्षण प्रभात की किरणों में बुद्धगुप्त का विजयी कृपाण उसके हाथों में चमक उठा। नायक की कायर आँखें प्राणभिक्षा माँगने लगीं।

बुद्धगुप्त ने कहा, "बोलो, अब स्वीकार है कि नहीं ?"

"मैं अनुचर हूँ, वरुणदेव की शपथ। मैं विश्वासघात न करूँगा।"

बुद्धगुप्त ने उसे छोड़ दिया।

चम्पा ने युवक जलदस्यु के समीप आकर उसके क्षतों को अपनी स्निग्ध दृष्टि से, कोमल करों से वेदनाविहीन कर दिया। बुद्धगुप्त के सुगठित शरीर पर रक्त-बिन्दु विजय-तिलक कर रहे थे।

विश्राम लेकर बुद्धगुप्त से पूछा, "हम लोग कहाँ होंगे ?"

"बालीद्वीप से बहुत दूर सम्भवतः एक नवीन द्वीप के पास जिसमें अभी हम लोगों का बहुत कम आना-जाना होता है। सिंहल के वणिकों का वहाँ प्राधान्य है।"

"कितने दिनों में हम लोग पहुँचेंगे ?"

"अनुकूल पवन मिलने पर दो दिन में। तब तक के लिए खाद्य का अभाव न होगा।"

सहसा नायक ने नाविकों को डाँड़ लगाने की आज्ञा दी, और स्वयं पतवार पकड़कर बैठ गया। बुद्धगुप्त के पूछने पर उसने कहा, "यहाँ एक जलमग्न शैलखण्ड है। सावधान न रहने से नाव के टकराने का भय है।"

[३]

"तुम्हें इन लोगों ने बन्दी क्यों बनाया ?"

"वणिक् मणिभद्र की पाप-वासना ने।"

"तुम्हारा घर कहाँ है ?"

"जाह्नवी के तट पर। चम्पा नगरी की एक क्षत्रिय बालिका हूँ। पिता इसी

मणिभद्र के यहाँ प्रहरी का काम करते थे। माता का देहावसान हो जाने पर मैं भी पिता के साथ नाव पर ही रहने लगी। आठ वर्ष से समुद्र ही मेरा घर है। तुम्हारे आक्रमण के समय मेरे पिता ने ही सात दस्युओं को मारकर जल-समाधि ली। एक मास हुआ मैं इस नील नभ के नीचे, नील जलनिधि के ऊपर, एक भयानक अनन्तता में निस्सहाय हूँ—अनाथ हूँ। मणिभद्र ने मुझसे एक दिन घृणित प्रस्ताव किया। मैंने उसे गालियाँ सुनायीं। उसी दिन से बन्दी बना दी गयी।"—चम्पा रोष से जल रही थी।

"मैं भी ताम्रलिप्ति का एक क्षत्रिय हूँ चम्पा! परन्तु दुर्भाग्य से जलदस्यु बनकर जीवन बिताता हूँ। अब तुम क्या करोगी?"

"मैं अपने अदृष्ट को अनिर्दिष्ट ही रहने दूँगी! वह जहाँ ले जाय।"—चम्पा की आँखें निस्सीम प्रदेश में निरुद्देश्य थीं। किसी आकांक्षा के लाल डोरे न थे। धवल अपांगों में बालक के सदृश विश्वास था। हत्या-व्यवसायी दस्यु भी उसे देखकर काँप गया। उसके मन में एक सम्भ्रमपूर्ण श्रद्धा यौवन की पहली लहरों को जगाने लगी। समुद्र-वक्ष पर विलम्बमयी रागरंजित सन्ध्या थिरकने लगी। चम्पा के असंयत कुन्तल उसकी पीठ पर बिखरे थे। दुर्दान्त दस्यु ने देखा, अपनी महिमा में अलौकिक एक तरुण बालिका! वह विस्मय से अपने हृदय को टटोलने लगा। उसे एक नयी वस्तु का पता चला। वह थी—कोमलता!

उसी समय नायक ने कहा, "हम लोग द्वीप के पास पहुँच गये।"

वेला से नाव टकरायी। चम्पा निर्भीकता से कूद पड़ी। माँझी भी उतरे।

बुद्धगुप्त ने कहा, "जब इसका कोई नाम नहीं है तो हम लोग इसे चम्पा द्वीप कहेंगे।"

चम्पा हँस पड़ी।

[४]

पाँच बरस बाद...

शरद के धवल नक्षत्र नील गगन में झलमला रहे थे। चन्द्र के उज्ज्वल विजय पर अन्तरिक्ष में शरदलक्ष्मी ने फूलों और खीलों को बिखेर दिया।

चम्पा के उच्चसौध पर बैठी हुई तरुणी चम्पा दीपक जला रही थी। बड़े यत्न से अभ्रक की मंजूषा में दीप धरकर उसने अपनी सुकुमार उँगलियों से डोरी खींची। वह दीपाधार ऊपर चढ़ने लगा। भोली-भाली आँखें उसे ऊपर

चढ़ते बड़े हर्ष से देख रही थीं। डोरी धीरे-धीरे खींची गयी। चम्पा की कामना थी कि उसका आकाश-दीप नक्षत्रों में हिल-मिल जाय; किन्तु वैसा असम्भव था। उसने आशा-भरी आँखें फिरा लीं।

सामने जल-राशि का रजत शृंगार था। वरुण बालिकाओं के लिए लहरों से हीरे और नीलम की क्रीड़ा शैल-मालाएँ बना रही थीं। और वे मायाविनी ललनाएँ अपनी हँसी का कलनाद छोड़कर छिप जाती थीं। दूर-दूर से धीवर की वंशी-झनकार उनके संगीत-सा मुखरित होता था। चम्पा ने देखा कि तरल संकुल जल-राशि में उसके कण्डील का प्रतिबिम्ब अस्त-व्यस्त था। वह अपनी पूर्णता के लिए सैकड़ों चक्कर काटता था। वह अनमनी होकर उठ खड़ी हुई। किसी को पास न देखकर पुकारा, "जया!"

एक श्यामा युवती सामने आकर खड़ी हुई। वह जंगली थी। नीलाभी मण्डल-से मुख में शुभ्र नक्षत्रों की पंक्ति के समान उसके दाँत हँसते ही रहते। वह चम्पा को रानी कहती; बुद्धगुप्त की आज्ञा थी।

"महानाविक कब तक आवेंगे, बाहर पूछो तो।"—चम्पा ने कहा। जया चली गयी।

दूरागत पवन चम्पा के अंचल में विश्राम लेना चाहता था। उसके हृदय में गुदगुदी-सी हो रही थी। आज न जाने क्यों वह बेसुध थी। एक दीर्घकाय दृढ़ पुरुष ने उसकी पीठ पर हाथ रख चमत्कृत कर दिया। उसने फिरकर कहा, "बुद्धगुप्त!"

"बावली हो क्या? यहाँ बैठी हुई अभी तक दीप जला रही हो, तुम्हें यह काम करना है?"

"क्षीरनिधिशायी अनन्त की प्रसन्नता के लिए क्या दासियों से आकाश-दीप जलवाऊँ?"

"हँसी आती है। तुम किसको दीप जलाकर पथ दिखलाना चाहती हो? उसको, जिसको तुमने भगवान मान लिया है?"

"हाँ, वह भी कभी भटकते हैं, भूलते हैं; नहीं तो बुद्धगुप्त को इतना ऐश्वर्य क्यों देते?"

"तो बुरा क्या हुआ, इस द्वीप की अधीश्वरी चम्पारानी!"

"मुझे इस बन्दीगृह से मुक्त करो। अब तो बाली, जावा और सुमात्रा का

वाणिज्य केवल तुम्हारे अधिकार में है। महानाविक ! परन्तु मुझे उन दिनों की स्मृति सुहावनी लगती है, जब तुम्हारे पास एक ही नाव थी और चम्पा के उपकूल में पण्य लादकर हम लोग सुखी जीवन बिताते थे—इस जल में अगणित बार हम लोगों की तरी आलोकमय प्रभात में, तारिकाओं की मधुर ज्योति में—थिरकती थी। बुद्धगुप्त ! उस विजन अनन्त में जब माँझी सो जाते थे, दीपक बुझ जाते थे, हम-तुम परिश्रम से थककर पालों में शरीर लपेटकर एक-दूसरे का मुँह क्यों देखते थे ? वह नक्षत्रों की मधुर छाया—"

"तो चम्पा ! अब उससे भी अच्छे ढंग से हम लोग विचर सकते हैं। तुम मेरी प्राणदात्री हो, मेरी सर्वस्व हो।"

"नहीं नहीं, तुमने दस्युवृत्ति छोड़ दी परन्तु हृदय वैसा ही अकरुण, सतृष्ण और ज्वलनशील है। तुम भगवान् के नाम पर हँसी उड़ाते हो। मेरे आकाश-दीप पर व्यंग्य कर रहे हो। नाविक ! उस प्रचण्ड आँधी में प्रकाश की एक-एक किरण के लिए हम लोग कितने व्याकुल थे। मुझे स्मरण है, मैं जब छोटी थी, मेरे पिता नौकरी पर समुद्र में जाते थे—मेरी माता, मिट्टी का दीपक बाँस की पिटारी में भागीरथी के तट पर बाँस के साथ ऊँचे टाँग देती थी। उस समय वह प्रार्थना करती, 'भगवान् ! मेरे पथभ्रष्ट नाविक को अन्धकार में ठीक पथ पर ले चलना।' और जब मेरे पिता बरसों पर लौटते तो कहते, 'साध्वी ! तेरी प्रार्थना से भगवान् ने भयानक संकटों में मेरी रक्षा की है।' वह गद्‌गद हो जाती। मेरी माँ ? आह नाविक ! यह उसी की पुण्यस्मृति है। मेरे पिता, वीर पिता की मृत्यु के निष्ठुर कारण जलदस्यु। हट जाओ।" सहसा चम्पा का मुख क्रोध से भीषण होकर रंग बदलने लगा। महानाविक ने कभी यह रूप न देखा था। वह ठठाकर हँस पड़ा।

"यह क्या चम्पा ? तुम अस्वस्थ हो जाओगी, सो रहो।" कहता हुआ चला गया। चम्पा मुट्ठी बाँधे उन्मादिनी-सी घूमती रही।

[५]

निर्जन समुद्र के उपकूल में वेला से टकराकर लहरें बिखर जाती थीं। पश्चिम का पथिक थक गया था। उसका मुख पीला पड़ गया। अपनी शान्त गम्भीर हलचल में जलनिधि विचार में निमग्न था। वह जैसे प्रकाश की उन्मलिन किरणों से विरक्त था।

चम्पा और जया धीरे-धीरे उस तट पर आकर खड़ी हो गयीं। तरंग से उठते हुए पवन ने उनके वसन को अस्तव्यस्त कर दिया। जया के संकेत से एक छोटी-सी नौका आयी। दोनों के उस पर बैठते ही नाविक उतर गया। जया नाव खेने लगी। चम्पा मुग्ध-सी समुद्र के उदास वातावरण में अपने को निश्चित कर देना चाहती थी।

'इतना जल ! इतनी शीतलता ! ! हृदय की प्यास न बुझी। पी सकूँगी ? नहीं। तो जैसे वेला से चोट खाकर सिन्धु चिल्ला उठता है, उसी के समान रोदन करूँ ? या जलते हुए स्वर्ण-गोलक सदृश अनन्त जल में डूबकर बुझ जाऊँ ?' चम्पा के देखते-देखते पीड़ा और ज्वलन से आरक्त बिम्ब धीरे-धीरे सिन्धु में, चौथाई···आधा फिर सम्पूर्ण विलीन हो गया। एक दीर्घ निःश्वास लेकर चम्पा ने मुँह फेर लिया। देखा तो महानाविक का बजरा उसके पास है। बुद्धगुप्त ने झुककर हाथ बढ़ाया। चम्पा उसके सहारे बजरे पर चढ़ गयी। दोनों पास-पास बैठ गये।

"इतनी छोटी नाव पर इधर घूमना ठीक नहीं। पास ही वह जलमग्न शैल-खण्ड है। कहीं नाव टकरा जाती या ऊपर चढ़ जाती, चम्पा, तो ?"

"अच्छा होता बुद्धगुप्त ! जल में बन्दी होना कठोर प्राचीरों से तो अच्छा है ! "

"आह चम्पा, तुम कितनी निर्दय हो ! बुद्धगुप्त को आज्ञा देकर देखो तो, वह क्या नहीं कर सकता। जो तुम्हारे लिए नये द्वीप की सृष्टि कर सकता है, नयी प्रजा खोज सकता है, नये राज्य बना सकता है, उसकी परीक्षा लेकर देखो तो···। कहो चम्पा ! वह कृपाण से अपना हृदय-पिण्ड निकाल अपने हाथों अतल जल में विसर्जन कर दे !"—महानाविक···जिसके नाम से बाली, जावा और चम्पा का आकाश गूँजता था, पवन थर्राता था···घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलायी आँखों से बैठा था।

सामने शैलमाला की चोटी पर, हरियाली में, विस्तृत जल-देश में, नील पिंगल सन्ध्या, प्रकृति की सहृदय कल्पना, विश्राम की शीतल छाया, स्वप्नलोक का सृजन करने लगी। उस मोहनी के रहस्यपूर्ण नीलजाल का कुहक स्फुट हो उठा। जैसे मदिरा से सारा अन्तरिक्ष सिक्त हो गया। सृष्टि नील कमलों से भर उठी। उस सौरभ से पागल चम्पा ने बुद्धगुप्त के दोनों हाथ पकड़ लिये। वहाँ

एक आलिङ्गन हुआ, जैसे क्षितिज, आकाश और सिन्धु का। किन्तु उस परि-रम्भ में सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने अपनी कंचुकी से कृपाण निकाल लिया।

"बुद्धगुप्त! आज मैं अपना प्रतिशोध का कृपाण अतल जल में डुबा देती हूँ। हृदय ने छल किया, बार-बार धोखा दिया!" चमककर वह कृपाण समुद्र का हृदय बेधता हुआ विलीन हो गया।

"तो आज से मैं विश्वास करूँ, क्षमा कर दिया गया?" आश्चर्यकम्पित कण्ठ से महानाविक ने पूछा।

"विश्वास? कदापि नहीं बुद्धगुप्त! जब मैं अपने हृदय पर विश्वास नहीं कर सकी? उसी ने धोखा दिया, तब मैं कैसे कहूँ। मैं तुम्हें घृणा करती हूँ फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु! तुम्हें प्यार करती हूँ।" चम्पा रो पड़ी।

वह स्वप्नों की रंगीन सन्ध्या, तम से अपनी आँखें बन्द करने लगी थी। दीर्घ निःश्वास लेकर महानाविक ने कहा, "इस जीवन की पुण्यतम घड़ी की स्मृति में एक प्रकाश-गृह बनाऊँगा, चम्पा! यहीं, उस पहाड़ी पर। सम्भव है कि मेरे जीवन की धुँधली सन्ध्या उससे आलोकपूर्ण हो जाय।"

[६]

चम्पा के दूसरे भाग में एक मनोरम शैलमाला थी। वह बहुत दूर तक सिन्धुजल में निमग्न थी। सागर का चंचल जल उस पर उछलता हुआ उसे छिपाये था। आज उसी शैलमाला पर चम्पा के आदि-निवासियों का समारोह था। उन सबों ने चम्पा को वनदेवी-सा सजाया था। ताम्रलिप्ति के बहुत-से सैनिक और नाविकों की श्रेणी में वन-कुसुम-विभूषिता चम्पा शिविकारूढ़ होकर जा रही थी।

शैल के एक ऊँचे शिखर पर चम्पा के नाविकों को सावधान करने के लिए सुदृढ़ दीप-स्तम्भ बनवाया गया था। शिविका से सहायता देकर चम्पा को उसने उतारा। दोनों ने भीतर पदार्पण किया था कि बाँसुरी और ढोल बजने लगे। पंक्तियों में कुसुम-भूषण से सजी वन-बालाएँ फूल उछालती हुई नाचने लगीं।

दीप-स्तम्भ की ऊपरी खिड़की से यह देखती हुई चम्पा ने जया से पूछा, "यह क्या है जया? इतनी बालिकाएँ कहाँ से बटोर लायी?"

"आज रानी का ब्याह है न?" कहकर जया ने हँस दिया।

बुद्धगुप्त विस्तृत जलनिधि की ओर देख रहा था। उसे झकझोरकर चम्पा ने पूछा, "क्या यह सच है?"

"यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह सच भी हो सकता है, चम्पा! कितने वर्षों से मैं ज्वालामुखी को अपनी छाती से दबाये हूँ।"

"चुप रहो महानाविक! क्या मुझे निस्सहाय और कंगाल जानकर तुमने आज सब प्रतिशोध लेना चाहा?"

"मैं तुम्हारे पिता का घातक नहीं हूँ, चम्पा! वह एक दूसरे दस्यु के शस्त्र से मरे।"

"यदि मैं इसका विश्वास कर सकती! बुद्धगुप्त, वह दिन कितना सुन्दर होता, वह क्षण कितना स्पृहणीय! आह! तुम इस निष्ठुरता में भी कितने महान् होते?"

जया नीचे चली गयी थी। स्तम्भ के संकीर्ण प्रकोष्ठ में बुद्धगुप्त और चम्पा एकान्त में एक-दूसरे के सामने बैठे थे।

बुद्धगुप्त ने चम्पा के पैर पकड़ लिये। उच्छ्वसित शब्दों में वह कहने लगा, "चम्पा, हम लोग जन्मभूमि—भारतवर्ष से कितनी दूर इन निरीह प्राणियों में इन्द्र और शची के समान पूजित हैं। पर जाने कौन अभिशाप हम लोगों को अभी तक अलग किये है। स्मरण होता है वह दार्शनिकों का देश! वह महिमा की प्रतिमा! मुझे वह स्मृति नित्य आकर्षित करती है, परन्तु मैं क्यों नहीं जाता? जानती हो इतना महत्त्व प्राप्त करने पर भी मैं कंगाल हूँ। मेरा पत्थर-सा हृदय एक दिन सहसा तुम्हारे स्पर्श से चन्द्रकान्तमणि की तरह द्रवित हुआ।

"चम्पा! मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं पाप को नहीं मानता, मैं दया को नहीं समझ सकता, मैं उस लोक में विश्वास नहीं करता। पर मुझे अपने हृदय के एक दुर्बल अंश पर श्रद्धा हो चली है। तुम न जाने कैसे एक बहकी हुई तारिका के समान मेरे शून्य में उदित हो गयी हो। आलोक की एक कोमल रेखा इस निविड़ तम में मुस्कराने लगी। पशु-बल और धन के उपासक के मन में किसी शान्त और कान्त कामना की हँसी खिलखिलाने लगी; पर मैं न हँस सका!

"चलोगी चम्पा? पोतवाहिनी पर असंख्य धनराशि लादकर राजरानी-सी जन्मभूमि के अंक में? आज हमारा परिणय हो, कल ही हम लोग भारत के

लिए प्रस्थान करें। महानाविक बुद्धगुप्त की आज्ञा सिन्धु की लहरें मानती हैं। वे स्वयं उस पोत-पुंज को दक्षिण पवन के समान भारत में पहुँचा देंगी। आह, चम्पा ! चलो।"

• चम्पा ने उसके हाथ पकड़ लिये। किसी आकस्मिक झटके ने एक पल-भर के लिए दोनों अधरों को मिला दिया। सहसा चैतन्य होकर चम्पा ने कहा, "बुद्धगुप्त ! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीतल है। कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं। सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है। प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए, और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिए।"

"तब मैं अवश्य चला जाऊँगा, चम्पा ! यहाँ रहकर मैं अपने हृदय पर अधिकार रख सकूँ—इसमें सन्देह है। आह ! किन लहरों में विनाश हो जाय !" महानाविक के उच्छ्वास में विकलता थी। फिर उसने पूछा, "तुम अकेली यहाँ क्या करोगी ?"

"पहले विचार था कि कभी-कभी इस दीप-स्तम्भ पर से आलोक जलाकर अपने पिता की समाधि का इस जल में अन्वेषण करूँगी। किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा, जैसे आकाश-दीप।"

एक दिन स्वर्ण-रहस्य के प्रभात में चम्पा ने अपने दीप-स्तम्भ पर से देखा —सामुद्रिक नावों की एक श्रेणी चम्पा का उपकूल छोड़कर पश्चिम-उत्तर की ओर महाजल-व्याल के समान सन्तरण कर रही है। उसकी आँखों से आँसू बहने लगे।

यह कितनी ही शताब्दियों पहले की कथा है। चम्पा आजीवन उस दीप-स्तम्भ में आलोक जलाती ही रही। किन्तु उसके बाद भी बहुत दिन, द्वीप-निवासी, उस समय माया-ममता और स्नेह-सेवा की देवी की समाधि सदृश पूजा करते थे।

एक दिन काल के कठोर हाथों ने उसे भी अपनी चंचलता से गिरा दिया।

कफ़न

प्रेमचन्द

झोंपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए हैं और अन्दर बेटे की जवान बीबी बुधिया प्रसव-वेदना से पछाड़ खा रही थी। रह-रहकर उसके मुँह से ऐसी दिल हिला देनेवाली आवाज निकलती थी, कि दोनों कलेजा थाम लेते थे। जाड़े की रात थी, प्रकृति सन्नाटे में डूबी हुई, सारा गाँव अन्धकार में लय हो गया था।

घीसू ने कहा, "मालूम होता है, बचेगी नहीं। सारा दिन दौड़ते हो गया, जा देख तो आ।"

माधव चिढ़कर बोला, "मरना ही है, तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती? देखकर क्या करूँ?"

"तू बड़ा बेदर्द है बे! साल-भर जिसके साथ सुख-चैन से रहा, उसी के साथ इतनी बेवफाई!"

"तो मुझसे तो उसका तड़पना और हाथ-पाँव पटकना नहीं देखा जाता।"

चमारों का कुनबा था और सारे गाँव में बदनाम। घीसू एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम। माधव इतना कामचोर था कि आध घण्टे काम करता तो घण्टे-भर चिलम पीता। इसलिए उन्हें कहीं मजदूरी नहीं मिलती थी। घर में मुट्ठी-भर भी अनाज मौजूद हो, तो उनके लिए काम करने की कसम थी। जब दो-चार फाके हो जाते तो घीसू पेड़ पर चढ़कर लकड़ियाँ तोड़ लाता और माधव बाजार से बेच लाता, और जब तक वह पैसे रहते, दोनों इधर-उधर मारे-मारे फिरते। जब फाके की नौबत आ जाती, तो फिर लकड़ियाँ

तोड़ते या मजदूरी तलाश करते। गाँव में काम की कमी न थी। किसानों का गाँव था, मेहनती आदमी के लिए पचास काम थे मगर इन दोनों को लोग उसी वक्त बुलाते, जब दो आदमियों से एक का काम पाकर भी सन्तोष कर लेने के सिवा और कोई चारा न होता। अगर दोनों साधु होते, तो उन्हें सन्तोष और धैर्य के लिए संयम और नियम की बिलकुल जरूरत न होती। यह तो इनकी प्रकृति थी। विचित्र जीवन था इनका! घर में मिट्टी के दो-चार बर्तनों के सिवा कोई सम्पत्ति नहीं। फटे चीथड़ों से अपनी नग्नता को ढाँके हुए जिये जाते थे। संसार की चिन्ताओं से मुक्त! कर्ज से लदे हुए। गालियाँ भी खाते, मार भी खाते, मगर कोई भी गम नहीं। दीन इतने कि वसूली की बिल्कुल आशा न रहने पर भी लोग इन्हें कुछ-न-कुछ कर्ज दे देते थे। मटर-आलू की फसल में दूसरों के खेतों से मटर या आलू उखाड़ लाते और भून-भानकर खा लेते या दस-पाँच ऊख उखाड़ लाते और रात को चूसते। घीसू ने इसी आकाश-वृत्ति से साठ साल की उम्र काट दी और माधव भी सपूत बेटे की तरह बाप ही के पद-चिह्नों पर चल रहा था, बल्कि उसका नाम और भी उजागर कर रहा था। इस वक्त भी दोनों अलाव के सामने बैठकर आलू भून रहे थे, जो कि किसी के खेत से खोद लाये थे। घीसू की स्त्री का तो बहुत दिन हुए देहान्त हो गया था। माधव का ब्याह पिछले साल हुआ था। जब से यह औरत आयी थी, उसने इस खानदान में व्यवस्था की नींव डाली थी। पिसाई करके या घास छीलकर वह सेर-भर आटे का इन्तजाम कर लेती थी और इन दोनों बे-गैरतों का दोजख भरती रहती थी। जब से वह आयी, यह दोनों और भी आलसी और आराम-तलब हो गये थे। बल्कि कुछ अकड़ने भी लगे थे। कोई कार्य करने को बुलाता, तो निर्व्याज भाव से दुगुनी मजदूरी माँगते। वही औरत आज प्रसव-वेदना से मर रही थी और यह दोनों शायद इसी इन्तजार में थे कि वह मर जाय, तो आराम से सोयें।

घीसू ने आलू निकालकर छीलते हुए कहा, "जाकर देख तो क्या दशा है उसकी? चुड़ैल का फिसाद होगा, और क्या? यहाँ तो ओझा भी एक रुपया माँगता है।"

माधव को भय था कि वह कोठरी में गया, तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ कर देगा। बोला, "मुझे वहाँ जाते डर लगता है!"

"डर किस बात का है ? मैं तो यहाँ हूँ ही !"

"तो तुम्हीं जाकर देखो न ?"

"मेरी औरत जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं और फिर मुझसे लजायेगी कि नहीं ? जिसका कभी मुँह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूँ ! उसे तन की सुध भी तो न होगी ? मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पाँव भी न पटक सकेगी !"

"मैं सोचता हूँ, कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा ? सोंठ, गुड़, तेल, कुछ भी तो नहीं घर में !"

"सबकुछ आ जायगा। भगवान दें तो ? जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में कभी कुछ न था; मगर भगवान ने किसी-न-किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया।"

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करनेवालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था और किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ, उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मण्डली के और लोग गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम-से-कम उसे किसानों की-सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग फायदा तो नहीं उठाते !

दोनों आलू निकाल-निकालकर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना सब्र न था कि ठण्डा हो जाने दें। कई बार दोनों की जबानें जल गयीं। छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा तो बहुत ज्यादा गर्म न मालूम होता; लेकिन दाँतों के तले पड़ते ही अन्दर का हिस्सा जबान और हलक और तालू को जला देता था और उस अंगारे को मुँह में रखने से ज्यादा खैरियत इसी में थी कि वह अन्दर पहुँच जाय। वहाँ उसे ठण्डा करने

के लिए काफी सामान थे। इसलिए दोनों जल्द-जल्द निगल जाते। हालाँकि इस कोशिश में उनकी आँखों में आँसू निकल आते।

घीसू को उस वक्त ठाकुर की बारात याद आयी, जिसमें बीस साल पहले वह गया था। उस दावत में उसे जो तृप्ति मिली थी, वह उसके जीवन में एक याद रखने लायक बात थी और आज भी उसकी याद ताजी थी! बोला, "वह भोज नहीं भूलता। तब से फिर उस तरह का खाना और भरपेट नहीं मिला। लड़कीवालों ने सबको भरपेट पूड़ियाँ खिलायी थीं, सबको! छोटे-बड़े सबने पूड़ियाँ खायीं और असली घी की? चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, चटनी, मिठाई। अब क्या बताऊँ कि उस भोज में क्या स्वाद मिला! कोई रोक-टोक नहीं थी। जो चीज चाहो माँगो और जितना चाहो खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया, किसी से पानी न पिया गया। मगर परोसनेवाले हैं कि पत्तल में गर्म-गर्म गोल-गोल सुवासित कचौड़ियाँ डाले देते हैं। मना करते हैं कि नहीं चाहिए, पत्तल पर हाथ रोके हुए हैं मगर वह हैं कि दिये जाते हैं। और जब मुँह धो लिया, तो पान-इलायची भी मिली। मगर मुझे पान लेने की कहाँ सुध थी? खड़ा न हुआ जाता था। चटपट जाकर अपने कम्बल पर लेट गया। ऐसा दिल-दरिआव था वह ठाकुर!"

माधव ने इन पदार्थों का मन-ही-मन मजा लेते हुए कहा, "अब हमें कोई भोज नहीं खिलाता।"

"अब कोई क्या खिलायेगा? वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफायत सूझती है। सादी-ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म में मत खर्च करो, पूछो, गरीबों का माल बटोर-बटोरकर कहाँ रखोगे? बटोरने में तो कमी नहीं है। हाँ, खर्च में किफायत सूझती है।"

"तुमने एक बीस पूरियाँ खायी होंगी?"

"बीस से ज्यादा खायी थीं!"

"मैं पचास खा जाता!"

"पचास से कम मैंने न खायी होंगी। अच्छा पट्ठा था! तू तो मेरा आधा भी नहीं है।"

आलू खाकर दोनों ने पानी पिया और वहीं अलाव के सामने अपनी

"डर किस बात का है ? मैं तो यहाँ हूँ ही !"

"तो तुम्हीं जाकर देखो न ?"

"मेरी औरत जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं और फिर मुझसे लजायेगी कि नहीं ? जिसका कभी मुँह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूँ ! उसे तन की सुध भी तो न होगी ? मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पाँव भी न पटक सकेगी !"

"मैं सोचता हूँ, कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा ? सोंठ, गुड़, तेल, कुछ भी तो नहीं घर में !"

"सबकुछ आ जायगा। भगवान दें तो ? जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में कभी कुछ न था; मगर भगवान ने किसी-न-किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया।"

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करनेवालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था और किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ, उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मण्डली के और लोग गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम-से-कम उसे किसानों की-सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग फायदा तो नहीं उठाते !

दोनों आलू निकाल-निकालकर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना सब्र न था कि ठण्डा हो जाने दें। कई बार दोनों की जबानें जल गयीं। छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा तो बहुत ज्यादा गर्म न मालूम होता; लेकिन दाँतों के तले पड़ते ही अन्दर का हिस्सा जबान और हलक और तालू को जला देता था और उस अंगारे को मुँह में रखने से ज्यादा खैरियत इसी में थी कि वह अन्दर पहुँच जाय। वहाँ उसे ठण्डा करने

के लिए काफी सामान थे। इसलिए दोनों जल्द-जल्द निगल जाते। हालाँकि इस कोशिश में उनकी आँखों में आँसू निकल आते।

घीसू को उस वक्त ठाकुर की बारात याद आयी, जिसमें बीस साल पहले वह गया था। उस दावत में उसे जो तृप्ति मिली थी, वह उसके जीवन में एक याद रखने लायक बात थी और आज भी उसकी याद ताजी थी! बोला, "वह भोज नहीं भूलता। तब से फिर उस तरह का खाना और भरपेट नहीं मिला। लड़कीवालों ने सबको भरपेट पूड़ियाँ खिलायी थीं, सबको! छोटे-बड़े सबने पूड़ियाँ खायीं और असली घी की? चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, चटनी, मिठाई। अब क्या बताऊँ कि उस भोज में क्या स्वाद मिला! कोई रोक-टोक नहीं थी। जो चीज चाहो माँगो और जितना चाहो खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया, किसी से पानी न पिया गया। मगर परोसनेवाले हैं कि पत्तल में गर्म-गर्म गोल-गोल सुवासित कचौड़ियाँ डाले देते हैं। मना करते हैं कि नहीं चाहिए, पत्तल पर हाथ रोके हुए हैं मगर वह हैं कि दिये जाते हैं। और जब मुँह धो लिया, तो पान-इलायची भी मिली। मगर मुझे पान लेने की कहाँ सुध थी? खड़ा न हुआ जाता था। चटपट जाकर अपने कम्बल पर लेट गया। ऐसा दिल-दरिआव था वह ठाकुर!"

माधव ने इन पदार्थों का मन-ही-मन मजा लेते हुए कहा, "अब हमें कोई भोज नहीं खिलाता।"

"अब कोई क्या खिलायेगा? वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफायत सूझती है। सादी-ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म में मत खर्च करो, पूछो, गरीबों का माल बटोर-बटोरकर कहाँ रखोगे? बटोरने में तो कमी नहीं है। हाँ, खर्च में किफायत सूझती है।"

"तुमने एक बीस पूरियाँ खायी होंगी?"

"बीस से ज्यादा खायी थीं!"

"मैं पचास खा जाता!"

"पचास से कम मैंने न खायी होंगी। अच्छा पट्ठा था! तू तो मेरा आधा भी नहीं है।"

आलू खाकर दोनों ने पानी पिया और वहीं अलाव के सामने अपनी

"डर किस बात का है ? मैं तो यहाँ हूँ ही !"

"तो तुम्हीं जाकर देखो न ?"

"मेरी औरत जब मरी थी, तो मैं तीन दिन तक उसके पास से हिला तक नहीं और फिर मुझसे लजायेगी कि नहीं ? जिसका कभी मुँह नहीं देखा, आज उसका उघड़ा हुआ बदन देखूँ ! उसे तन की सुध भी तो न होगी ? मुझे देख लेगी तो खुलकर हाथ-पाँव भी न पटक सकेगी !"

"मैं सोचता हूँ, कोई बाल-बच्चा हो गया तो क्या होगा ? सोंठ, गुड़, तेल, कुछ भी तो नहीं घर में !"

"सबकुछ आ जायगा। भगवान दें तो ? जो लोग अभी एक पैसा नहीं दे रहे हैं, वे ही कल बुलाकर रुपये देंगे। मेरे नौ लड़के हुए, घर में कभी कुछ न था; मगर भगवान ने किसी-न-किसी तरह बेड़ा पार ही लगाया।"

जिस समाज में रात-दिन मेहनत करनेवालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी। हम तो कहेंगे, घीसू किसानों से कहीं ज्यादा विचारवान था और किसानों के विचारशून्य समूह में शामिल होने के बदले बैठकबाजों की कुत्सित मण्डली में जा मिला था। हाँ, उसमें यह शक्ति न थी कि बैठकबाजों के नियम और नीति का पालन करता। इसलिए जहाँ उसकी मण्डली के और लोग गाँव के सरगना और मुखिया बने हुए थे, उस पर सारा गाँव उँगली उठाता था। फिर भी उसे यह तसकीन तो थी ही कि अगर वह फटेहाल है तो कम-से-कम उसे किसानों की-सी जी-तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। और उसकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग फायदा तो नहीं उठाते !

दोनों आलू निकाल-निकालकर जलते-जलते खाने लगे। कल से कुछ नहीं खाया था। इतना सब्र न था कि ठण्डा हो जाने दें। कई बार दोनों की जबानें जल गयीं। छिल जाने पर आलू का बाहरी हिस्सा तो बहुत ज्यादा गर्म न मालूम होता; लेकिन दाँतों के तले पड़ते ही अन्दर का हिस्सा जबान और हलक और तालू को जला देता था और उस अंगारे को मुँह में रखने से ज्यादा खैरियत इसी में थी कि वह अन्दर पहुँच जाय। वहाँ उसे ठण्डा करने

के लिए काफी सामान थे। इसलिए दोनों जल्द-जल्द निगल जाते। हालाँकि इस कोशिश में उनकी आँखों में आँसू निकल आते।

घीसू को उस वक्त ठाकुर की बारात याद आयी, जिसमें बीस साल पहले वह गया था। उस दावत में उसे जो तृप्ति मिली थी, वह उसके जीवन में एक याद रखने लायक बात थी और आज भी उसकी याद ताजी थी! बोला, "वह भोज नहीं भूलता। तब से फिर उस तरह का खाना और भरपेट नहीं मिला। लड़कीवालों ने सबको भरपेट पूड़ियाँ खिलायी थीं, सबको! छोटे-बड़े सबने पूड़ियाँ खायीं और असली घी की? चटनी, रायता, तीन तरह के सूखे साग, एक रसेदार तरकारी, दही, चटनी, मिठाई। अब क्या बताऊँ कि उस भोज में क्या स्वाद मिला! कोई रोक-टोक नहीं थी। जो चीज चाहो माँगो और जितना चाहो खाओ। लोगों ने ऐसा खाया, ऐसा खाया, किसी से पानी न पिया गया। मगर परोसनेवाले हैं कि पत्तल में गर्म-गर्म गोल-गोल सुवासित कचौड़ियाँ डाले देते हैं। मना करते हैं कि नहीं चाहिए, पत्तल पर हाथ रोके हुए हैं मगर वह हैं कि दिये जाते हैं। और जब मुँह धो लिया, तो पान-इलायची भी मिली। मगर मुझे पान लेने की कहाँ सुध थी? खड़ा न हुआ जाता था। चटपट जाकर अपने कम्बल पर लेट गया। ऐसा दिल-दरिआव था वह ठाकुर!"

माधव ने इन पदार्थों का मन-ही-मन मजा लेते हुए कहा, "अब हमें कोई भोज नहीं खिलाता।"

"अब कोई क्या खिलायेगा? वह जमाना दूसरा था। अब तो सबको किफायत सूझती है। सादी-ब्याह में मत खर्च करो, क्रिया-कर्म में मत खर्च करो, पूछो, गरीबों का माल बटोर-बटोरकर कहाँ रखोगे? बटोरने में तो कमी नहीं है। हाँ, खर्च में किफायत सूझती है।"

"तुमने एक बीस पूरियाँ खायी होंगी?"

"बीस से ज्यादा खायी थीं!"

"मैं पचास खा जाता!"

"पचास से कम मैंने न खायी होंगी। अच्छा पट्ठा था! तू तो मेरा आधा भी नहीं है।"

आलू खाकर दोनों ने पानी पिया और वहीं अलाव के सामने अपनी

धोतियाँ ओढ़कर पाँव पेट में डाले सो रहे। जैसे दो बड़े-बड़े अजगर गेडुलियाँ मारे पड़े हों।

और बुधिया अभी तक कराह रही थी।

[२]

सवेरे माधव ने कोठरी में जाकर देखा, तो उसकी स्त्री ठण्डी हो गयी थी। उसके मुँह पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पथरायी हुई आँखें ऊपर टँगी हुई थीं। सारी देह धूल से लथपथ हो रही थी। उसके पेट में बच्चा मर गया था।

माधव भागा हुआ घीसू के पास आया। फिर दोनों जोर-जोर से हाय-हाय करने और छाती पीटने लगे। पड़ोसवालों ने यह रोना-धोना सुना, तो दौड़े आये और पुरानी मर्यादा के अनुसार इन अभागों को समझाने लगे।

मगर ज्यादा रोने-पीटने का अवसर न था। कफ़न की और लकड़ी की फिक्र करनी थी। घर में तो पैसा इस तरह गायब था, जैसे चील के घोंसले में मांस।

बाप-बेटे रोते हुए गाँव के जमींदार के पास गये। वह इन दोनों की सूरत से नफरत करते थे। कई बार इन्हें अपने हाथों पीट चुके थे। चोरी करने के लिए, वादे पर काम पर न आने के लिए। पूछा, "क्या है बे घिसुआ, रोता क्यों है? अब तो तू कहीं दिखायी भी नहीं देता! मालूम होता है, इस गाँव में रहना नहीं चाहता।"

घीसू ने जमीन पर सिर रखकर आँखों में आँसू भरे हुए कहा, "सरकार! बड़ी विपत्ति में हूँ। माधव की घरवाली रात को गुजर गयी। रात-भर तड़पती रही सरकार! हम दोनों उसके सिरहाने बैठे रहे। दवा-दारू जो कुछ हो सका, सबकुछ किया, मुदा वह हमें दगा दे गयी। अब कोई एक रोटी देनेवाला भी न रहा मालिक! तबाह हो गये। घर उजड़ गया। आपका गुलाम हूँ, अब आपके सिवा कौन उसकी मिट्टी पार लगायेगा? हमारे हाथ में तो जो कुछ था, वह सब तो दवा-दारू में उठ गया। सरकार ही की दया होगी तो उसकी मिट्टी उठेगी। आपके सिवा किसके द्वार पर जाऊँ?"

जमींदार साहब दयालु थे। मगर घीसू पर दया करना काले कम्बल पर रंग चढ़ाना था। जी में तो आया, कह दें, चल, दूर हो यहाँ से; यों तो बुलाने

से भी नहीं आता, आज जब गरज पड़ी तो आकर खुशामद कर रहा है। हराम-खोर कहीं का, बदमाश ! लेकिन यह क्रोध या दण्ड का अवसर न था। जी में कुढ़ते हुए दो रुपये निकालकर फेंक दिये। मगर सान्त्वना का एक शब्द भी मुँह से न निकाला। उसकी तरफ ताका नहीं। जैसे सिर का बोझ उतारा हो।

जब जमींदार साहब ने दो रुपये दिये, तो गाँव के बनिये महाजनों को इन्कार का साहस कैसे होता ? घीसू जमींदार के नाम का ढिंढोरा भी पीटना जानता था। किसी ने दो आने दिये, किसी ने चार आने। एक घण्टे में घीसू के पास पाँच रुपये की अच्छी रकम जमा हो गयी। कहीं से अनाज मिल गया, कहीं से लकड़ी और दोपहर को घीसू और माधव बाजार से कफ़न लाने चले। इधर लोग बाँस-वाँस काटने लगे।

गाँव की नर्मदिल स्त्रियाँ आ-आकर लाश को देखती थीं और उसकी बेकसी पर दो बूँद आँसू गिराकर चली जाती थीं।

[३]

बाजार में पहुँचकर घीसू बोला, "लकड़ी तो उसे जलाने-भर को मिल गयी है, क्यों माधव !"

माधव बोला, "हाँ, लकड़ी तो बहुत है, अब कफ़न चाहिए !"

"तो चलो, कोई हल्का-सा कफ़न ले लें।"

"हाँ और क्या ! लाश उठते-उठते रात हो जायगी। रात को कफ़न कौन देखता है ?"

"कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते-जी तन ढाँकने को चीथड़ा भी न मिले, उसे मरने पर नया कफ़न चाहिए।"

"कफ़न लाश के साथ ही तो जल जाता है।"

"और क्या रखा रहता है ? यही पाँच रुपये पहले मिलते, तो कुछ दवा-दारू कर लेते।"

दोनों एक-दूसरे के मन की बात ताड़ रहे थे। बाजार में इधर-उधर घूमते रहे। कभी इस बजाज की दूकान पर गये, कभी उसकी दूकान पर। तरह-तरह के कपड़े, रेशमी और सूती देखे, मगर कुछ जँचा नहीं। यहाँ तक कि शाम हो गयी। तब दोनों न जाने किस दैवी प्रेरणा से एक मधुशाला के सामने आ पहुँचे और जैसे किसी पूर्व-निश्चित व्यवस्था से अन्दर चले गये। यहाँ जरा देर तक

दोनों असमंजस में खड़े रहे। फिर घीसू ने गद्दी के सामने जाकर कहा, "साहूजी, एक बोतल हमें भी देना।"

इसके बाद कुछ चिखौना आया, तली हुई मछलियाँ आयीं और दोनों बरामदे में बैठकर शान्तिपूर्वक पीने लगे।

कई कुज्जियाँ ताबड़-तोड़ पीने के बाद दोनों गरूर में आ गये।

घीसू बोला, "कफ़न लगाने से क्या मिलता? आखिर जल ही तो जाता। कुछ बहू के साथ तो न जाता।"

माधव आसमान की तरफ देखकर बोला, मानो देवताओं को अपनी निष्पापता का साक्षी बना रहा हो—'दुनिया का दस्तूर है, नहीं लोग बाँभनों को हजारों रुपये क्यों देते हैं। कौन देखता है, परलोक मिलता है या नहीं!'

"बड़े आदमियों के पास धन है, फूँकें! हमारे पास फूँकने को क्या है?"

"लेकिन लोगों को जवाब क्या दोगे? लोग पूछेंगे नहीं, कफ़न कहाँ है?"

घीसू हँसा, "अबे कह देंगे कि रुपये कमर से खिसक गये, बहुत ढूँढ़ा, मिले नहीं। लोगों को विश्वास तो न आयेगा, लेकिन फिर वही रुपये देंगे।"

माधव भी हँसा, इस अनपेक्षित सौभाग्य पर। बोला, "बड़ी अच्छी थी बेचारी। मरी तो खूब खिला-पिलाकर।"

आधी बोतल से ज्यादा उड़ गयी। घीसू ने दो सेर पूड़ियाँ मँगायीं। चटनी, अचार, कलेजियाँ। शराबखाने के सामने ही दूकान थी। माधव लपककर दो पत्तलों में सारे सामान ले आया। पूरा डेढ़ रुपया खर्च हो गया। सिर्फ थोड़े-से पैसे बच रहे।

दोनों इस वक्त शान से बैठे हुए पूरियाँ खा रहे थे जैसे जंगल में कोई शेर शिकार उड़ा रहा हो। न जवाबदेही का शौक था, न बदनामी की फिक्र। इन भावनाओं को उन्होंने बहुत पहले ही जीत लिया था।

घीसू दार्शनिक भाव से बोला, "हमारी आत्मा प्रसन्न हो रही है, तो क्या उसे पुन्य न होगा?"

माधव ने श्रद्धा से सिर झुकाकर तसदीक की, "जरूर-से-जरूर होगा। भगवान, तुम अन्तर्यामी हो! उसे बैकुण्ठ ले जाना। हम दोनों हृदय से आशीर्वाद दे रहे हैं। आज जो भोजन मिला, वह कभी उम्र-भर न मिला था।"

एक क्षण के बाद माधव के मन में एक शंका जागी, बोला, "क्यों दादा, हम

लोग भी तो एक-न-एक दिन वहाँ जायेंगे ही ?"

घीसू ने इस भोले-भाले सवाल का कुछ उत्तर न दिया। वह परलोक की बात सोचकर आनन्द में बाधा न डालना चाहता था।

• "जो वहाँ वह हम लोगों से पूछे कि तुमने हमें कफ़न क्यों नहीं दिया, तो क्या कहोगे ?"

"कहेंगे तुम्हारा सिर।"

"पूछेगी तो जरूर !"

"तू कैसे जानता है कि उसे कफ़न न मिलेगा ? तू मुझे ऐसा गधा समझता है ? क्या साठ साल दुनिया में घास खोदता रहा हूँ ! उसको कफ़न मिलेगा और इससे बहुत अच्छा मिलेगा।"

माधव को विश्वास न आया। बोला, "कौन देगा ? रुपये तो तुमने चट कर दिये। वह तो मुझसे पूछेगी। उसकी माँग में तो सेंदुर मैंने डाला था।"

घीसू गर्म होकर बोला, "मैं कहता हूँ, उसे कफ़न मिलेगा, तू मानता क्यों नहीं ?"

"कौन देगा, बताते क्यों नहीं ?"

"वही लोग देंगे, जिन्होंने अबकी दिया। हाँ, अबकी रुपये हमारे हाथ न आयेंगे।"

ज्यों-ज्यों अँधेरा बढ़ता था और सितारों की चमक तेज होती थी, मधुशाला की रौनक भी बढ़ती जाती थी। कोई गाता था, कोई डींग मारता था, कोई अपने संगी के गले में लिपटा जाता था। कोई अपने दोस्त के मुँह में कुल्हड़ लगाये देता था।

वहाँ के वातावरण में सरूर था, हवा में नशा। कितने तो यहाँ आकर एक चुल्लू में मस्त हो जाते थे। शराब से ज्यादा यहाँ की हवा उन पर नशा करती थी। जीवन की बाधाएँ यहाँ खींच लाती थीं और कुछ देर के लिए वे यह भूल जाते थे कि वे जीते हैं या मरते हैं या न जीते हैं, न मरते हैं।

और यह दोनों बाप-बेटे अब भी मजे ले-लेकर चुसकियाँ ले रहे थे। सबकी निगाहें इनकी ओर जमी हुई थीं। दोनों कितने भाग्य के बली हैं। पूरी बोतल बीच में है।

भरपेट खाकर माधव ने बची हुई पूड़ियों का पत्तल उठाकर एक भिखारी

को दे दिया, जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था। और 'देने' के गौरव, आनन्द और उल्लास का अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया।

घीसू ने कहा, "ले जा, खूब खा और आशीर्वाद दे। जिसकी कमाई है, वह तो मर गयी। मगर तेरा आशीर्वाद उसे जरूर पहुँचेगा। रोयें-रोयें से आशीर्वाद द, बड़ी गाढ़ी कमाई के पैसे हैं।"

माधव ने फिर आसमान की तरफ देखकर कहा, "वह बैकुण्ठ में जायगी दादा, बैकुण्ठ की रानी बनेगी।"

घीसू खड़ा हो गया और जैसे उल्लास की लहरों में तैरता हुआ बोला, "हाँ बेटा, बैकुण्ठ में जायगी। किसी को सताया नहीं, किसी को दबाया नहीं। मरते-मरते हमारी जिन्दगी की सबसे बड़ी लालसा पूरी कर गयी। वह न बैकुण्ठ में जायगी तो क्या ये मोटे-मोटे लोग जायेंगे जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गङ्गा में नहाते हैं और मन्दिरों में जल चढ़ाते हैं!"

श्रद्धालुता का यह रंग तुरन्त ही बदल गया। अस्थिरता नशे की खासियत है। दुःख और निराशा का दौरा हुआ।

माधव बोला, "मगर दादा, बेचारी ने जिन्दगी में बड़ा दुःख भोगा; कितना दुःख झेलकर मरी!"

वह आँखों पर हाथ रखकर रोने लगा, चीखें मार-मारकर।

घीसू ने समझाया, "क्यों रोता है बेटा, खुश हो कि वह मायाजाल से मुक्त हो गयी। जंजाल से छूट गयी, बड़ी भाग्यवान थी, जो इतनी जल्दी माया-मोह से बन्धन तोड़ दिये।"

और दोनों खड़े होकर गाने लगे—

"ठगिनी क्यों नैना झमकावे! ठगिनी!"

पियक्कड़ों की आँखें इनकी ओर लगी हुई थीं और यह दोनों अपने दिल में मस्त गाये जाते थे। फिर दोनों नाचने लगे। उछले भी, कूदे भी। गिरे भी, मटके भी। भाव भी बताये, अभिनय भी किये और आखिर नशे से बदमस्त होकर वहीं गिर पड़े।

पत्नी

जैनेन्द्रकुमार

शहर के एक ओर एक तिरस्कृत मकान। दूसरा तल्ला। वहाँ चौके में एक स्त्री अँगीठी सामने लिये बैठी है। अँगीठी की आग राख हुई जा रही है। वह जाने क्या सोच रही है। उसकी अवस्था बीस-बाईस के लगभग होगी। देह से कुछ दुबली है और सम्भ्रान्त-कुल की मालूम होती है।

एकाएक अँगीठी में राख होती हुई आग की ओर स्त्री का ध्यान गया। घुटनों पर हाथ देकर वह उठी। उठकर वह कुछ कोयले लायी। कोयले अँगीठी में डालकर फिर किनारे ऐसे बैठ गयी, मानो याद करना चाहती है कि 'अब क्या करूँ ?' घर में और कोई नहीं है और समय बारह से ऊपर हो गया है।

दो प्राणी इस घर में रहते हैं, पति और पत्नी। पति सवेरे से गये लौटे नहीं और पत्नी चौके में बैठी है।

सुनन्दा सोचती है—नहीं, सोचती कहाँ है, अलसभाव से वह तो वहाँ बैठी ही है। सोचने को है तो यही कि कोयले न बुझ जायँ।···वह जाने कब आयेंगे। एक बज गया है। कुछ हो, आदमी को अपनी देह की फिक्र तो करनी चाहिए। ···और सुनन्दा बैठी है। वह कुछ कर नहीं रही है। जब वह आयेंगे तब रोटी बना देगी। वह जाने कहाँ-कहाँ देर लगा देते हैं। और कब तक बैठूँ ! मुझसे नहीं बैठा जाता। कोयले भी लहक आये हैं। और उसने झल्लाकर तवा अँगीठी पर रख दिया। नहीं, अब वह रोटी बना ही लेगी। उसने जोर से खीझकर आटे की थाली सामने खींच ली और रोटी बेलने लगी।

थोड़ी देर बाद उसने जीने पर पैरों की आहट सुनी। उसके मुख पर कुछ

तल्लीनता आयी। क्षण-भर वह आभा उसके चेहरे पर रहकर चली गयी। वह फिर उसी भाँति काम में लग गयी।

कालिन्दीचरण (पति) आये। उनके पीछे-पीछे तीन और उनके मित्र भी आये। ये आपस में बातें करते चले आ रहे थे। और खूब गर्म थे। कालिन्दीचरण मित्रों के साथ सीधे अपने कमरे में चले गये। उनमें बहस छिड़ी थी। कमरे में पहुँचकर रुकी हुई बहस फिर छिड़ गयी। ये चारों व्यक्ति देशोद्धार के सम्बन्ध में बहुत कटिबद्ध हैं। चर्चा उसी सिलसिले में चल रही है। भारत माता को स्वतन्त्र कराना होगा—और नीति-अनीति, हिंसा-अहिंसा को देखने का यह समय नहीं है। मीठी बातों का परिणाम बहुत देखा। मीठी बातों से बाघ के मुँह से अपना सिर नहीं निकाला जा सकता। उस वक्त बाघ का मारना ही एक इलाज है। आतंक! हाँ आतंक। हमें क्या आतंकवाद से डरना होगा? लोग हैं जो कहते हैं, आतंकवादी मूर्ख हैं, वे बच्चे हैं। हाँ, वे हैं बच्चे और मूर्ख। उन्हें बुजुर्गी और बुद्धिमानी नहीं चाहिए। हमें नहीं अभिलाषा अपने जीने की। हमें नहीं मोह बाल-बच्चों का। हमें नहीं गर्ज धन-दौलत की। तब हम मरने के लिए आजाद क्यों नहीं हैं? जुल्म होगा ही। उससे वे डरें जो डरते हैं। डर हम जवानों के लिए नहीं है।

फिर वे चारों आदमी निश्चय करने में लगे कि उन्हें खुद क्या करना चाहिए।

इतने में कालिन्दीचरण को ध्यान आया कि न उसने खाना खाया है, न मित्रों के खाने के लिए पूछा है। उसने अपने मित्रों से माफी माँगकर छुट्टी ली और सुनन्दा की ओर चला।

सुनन्दा जहाँ थी, वहाँ है। वह रोटी बना चुकी है। अँगीठी के कोयले उल्टे तवे से दबे हैं। माथे को उँगलियों पर टिकाकर वह बैठी है। बैठी-बैठी सूनी-सी देख रही है। सुन रही है कि उसके पति कालिन्दीचरण अपने मित्रों के साथ क्यों और क्या बातें कर रहे हैं। उसे जोश का कारण समझ में नहीं आता। उत्साह उसके लिए अपरिचित है। वह उसके लिए कुछ दूर की वस्तु है, स्पृहणीय और मनोरम और हरियाली। वह भारत माता की स्वतन्त्रता को समझना चाहती है; पर उसको न भारत माता समझ में आती है न स्वतन्त्रता समझ में आती है। उसे इन लोगों की इस जोरों की बातचीत का मतलब ही समझ

में नहीं आता। फिर भी, उत्साह की उसमें बड़ी भूल है। जीवन की हौंस उसमें बुझती-सी जा रही है; पर वह जीना चाहती है। उसने बहुत चाहा है कि पति उससे भी कुछ देश की बात करे। उसमें बुद्धि तो जरा कम है, फिर धीरे-धीरे क्या वह भी समझने नहीं लगेगी? सोचती है, कम पढ़ी हूँ, तो इसमें मेरा ऐसा कसूर क्या है? अब तो पढ़ने को मैं तैयार हूँ, लेकिन पत्नी के साथ पति का धीरज खो जाता है। खैर, उसने सोचा है, उसका काम तो सेवा है। बस, यह मानकर जैसे कुछ समझने की चाह ही छोड़ दी है। वह अनायास भाव से पति के साथ रहती है और कभी उनकी राह के बीच में आने को नहीं सोचती! वह एक बात जान चुकी है कि उसके पति नें अगर आराम छोड़ दिया है, घर का काम छोड़ दिया है, जान-बूझकर उखड़े-उखड़े और मारे-मारे जो फिरते हैं, इसमें वे कुछ भला ही सोचते होंगे। इसी बात को पकड़कर वह आपत्ति-शून्य भाव से पति के साथ विपदा-पर-विपदा उठाती रही है। पति ने कहा भी है कि तुम मेरे साथ क्यों दुःख उठाती हो; पर सुनकर वह चुप रह गयी है, सोचती रह गयी है कि जिसे 'सरकार' कहते हैं, वह सरकार उनके इस तरह के कामों से बहुत नाराज है। सरकार सरकार है। उसके मन में कोई स्पष्ट भावना नहीं है कि 'सरकार' क्या होती है; पर यह जितने हाकिम लोग हैं, वे बड़े जबरदस्त होते हैं और उनके पास बड़ी-बड़ी ताकतें हैं। इतनी फौज, पुलिस के सिपाही और मजिस्ट्रेट और मुंशी और चपरासी और थानेदार और वायसराय ये सरकार के ही हैं। इन सबसे कैसे लड़ा जा सकता है? हाकिम से लड़ना ठीक बात नहीं है; पर यह उसी लड़ने में तन-मन बिसार बैठे हैं। खैर, लेकिन ये सब-के-सब इतने जोर से क्यों बोलते हैं? उसको यही बहुत बुरा लगता है। सीधे-सादे कपड़ों में एक खुफिया पुलिस का आदमी हरदम उनके घर के बाहर रहता है। ये लोग इस बात को क्यों भूल जाते हैं? इतने जोर से क्यों बोलते हैं?

बैठे-बैठे वह इसी तरह की बातें सोच रही है। देखो, अब दो बजेंगे। उन्हें न खाने की फिक्र न मेरी फिक्र। मेरी तो खैर कुछ नहीं; पर अपने तन का ध्यान तो रखना चाहिए। ऐसी बेपरवाही से तो वह बच्चा चला गया। उसका मन कितना भी इधर-उधर डोले; पर अकेली जब होती है, तब भटक-भटककर वह मन अन्त में उसी बच्चे के अभाव पर आ पहुँचता है। तब उसे बच्चे

की वही-वही बातें याद आती हैं—वे बड़ी प्यारी आँखें, अँगुलियाँ और नन्हें-नन्हें ओंठ याद आते हैं—अठखेलियाँ याद आती हैं। सबसे ज्यादा उसका मरना याद आता है। ओह! यह मरना क्या है। इस मरने की तरफ उससे देखा नहीं जाता। यद्यपि वह जानती है कि मरना सबको है—उसको मरना है, उसके पति को मरना है; पर उस तरफ भूल से छन-भर देखती है, तो भय से भर जाती है। यह उससे सहा नहीं जाता। बच्चे की याद उसे मथ उठती है। वह विह्वल होकर आँख पोंछती है और हठात् इधर-उधर की किसी काम की बात में अपने को उलझा लेना चाहती है; पर अकेले में, वह कुछ करे, रह-रहकर वही वह याद—वही वह मरने की बात उसके सामने ही रहती है और उसका चित्त बेबस हो जाता है।

वह उठी। अब उठकर बरतनों को माँज डालेगी, चौका भी साफ करना है। आह! खाली बैठी मैं क्या सोचती रहा करती हूँ।

इतने में कालिन्दीचरण चौके में घुसे।

सुनन्दा कठोरतापूर्वक शून्य को ही देखती रही। उसने पति की ओर नहीं देखा।

कालिन्दी ने कहा, "सुनन्दा, खानेवाले हम चार हैं। खाना हो गया?"

सुनन्दा चून की थाली और चकला-बेलन और बटलोई वगैरह खाली बरतन उठाकर चल दी, कुछ भी बोली नहीं।

कालिन्दी ने कहा, "सुनती हो, तीन आदमी मेरे साथ और हैं। खाना बन सके तो कहो; नहीं तो इतने में ही काम चला लेंगे।"

सुनन्दा कुछ भी नहीं बोली। उसके मन में बेहद गुस्सा उठने लगा। वे उससे क्षमाप्रार्थी-से क्यों बात कर रहे हैं, हँसकर क्यों नहीं कह देते कि कुछ और खाना बना दो। जैसे मैं गैर हूँ। अच्छी बात है, तो मैं भी गुलाम नहीं हूँ कि इनके ही काम में लगी रहूँ। मैं कुछ नहीं जानती खाना-वाना। और वह चुप रही।

कालिन्दीचरण ने जरा जोर से कहा, "सुनन्दा!"

सुनन्दा के जी में ऐसा हुआ कि हाथ की बटलोई को खूब जोर से फेंक दे। किसी का गुस्सा सहने के लिए वह नहीं है। उसे तनिक भी सुध न रही कि अभी बैठ-बैठे इन्हीं अपने पति के बारे में कैसी प्रीति की और भलाई की बातें

सोच रही थी। इस वक्त भीतर-ही-भीतर गुस्से से घुटकर रह गयी।

"क्यों! बोल भी नहीं सकतीं?"

सुनन्दा नहीं ही बोली।

"तो अच्छी बात है। खाना कोई भी नहीं खायेगा।"

यह कहकर कालिन्दी तैश में पैर पटकते हुए लौटकर चले गये।

कालिन्दीचरण अपने दल में उग्र नहीं समझे जाते, किसी कदर उदार समझे जाते हैं। सदस्य अधिकतर अविवाहित हैं, कालिन्दीचरण विवाहित ही नहीं हैं, वह एक बच्चा खो चुके हैं। उनकी बात का दल में आदर है। कुछ लोग उनके धीमेपन पर रुष्ट भी हैं। वह दल में विवेक के प्रतिनिधि हैं और उत्ताप पर अंकुश का काम करते हैं।

बहस इतनी बात पर थी कि कालिन्दी का मत था कि हमें आतंक को छोड़ने की ओर बढ़ना चाहिए। आतंक से विवेक कुण्ठित होता है और या तो मनुष्य उससे उत्तेजित ही रहता है, या उसके भय से दबा रहता है। दोनों ही स्थितियाँ श्रेष्ठ नहीं हैं। हमारा लक्ष्य बुद्धि को चारों ओर से जगाना है, उसे आतंकित करना नहीं। सरकार व्यक्ति के और राष्ट्र के विकास के ऊपर बैठकर उसे दबाना चाहती है। हम इसी विकास के अवरोध को हटाना चाहते हैं—इसी को मुक्त करना चाहते हैं। आतंक से वह काम नहीं होगा। जो शक्ति के मद में उन्मत्त है, असली काम तो उसका मद उतारने और उसमें कर्त्तव्य-भावना का प्रकाश जगाने का है। हम स्वीकार करें कि मद उसकी टक्कर खाकर, चोट पाकर ही उतरेगा। यह चोट देने के लिए हमें अवश्य तैयार रहना चाहिए; पर यह नोचा-नोची उपयुक्त नहीं। इससे सत्ता का कुछ बिगड़ता तो नहीं, उल्टे उसे अपने औचित्य पर सन्तोष हो आता है।

पर जब (सुनन्दा के पास से) लौटकर आया, तब देखा गया कि कालिन्दी अपने पक्ष पर दृढ़ नहीं है। वह सहमत हो सकता है कि हाँ, आतंक जरूरी भी है। 'हाँ', उसने कहा, 'यह ठीक है कि हम लोग कुछ काम शुरू कर दें।' इसके साथ ही कहा, 'आप लोगों को भूख नहीं लगी है क्या? उनकी तबियत खराब है, इससे यहाँ तो खाना बना नहीं। बताओ क्या किया जाय? कहीं होटल चलें?'

एक ने कहा कि कुछ बाजार से यहीं मँगा लेना चाहिए। दूसरे की राय

की वही-वही बातें याद आती हैं—वे बड़ी प्यारी आँखें, अँगुलियाँ और नन्हें-नन्हें ओंठ याद आते हैं—अठखेलियाँ याद आती हैं। सबसे ज्यादा उसका मरना याद आता है। ओह! यह मरना क्या है। इस मरने की तरफ उससे देखा नहीं जाता। यद्यपि वह जानती है कि मरना सबको है—उसको मरना है, उसके पति को मरना है; पर उस तरफ भूल से छन-भर देखती है, तो भय से भर जाती है। यह उससे सहा नहीं जाता। बच्चे की याद उसे मथ उठती है। वह विह्वल होकर आँख पोंछती है और हठात् इधर-उधर की किसी काम की बात में अपने को उलझा लेना चाहती है; पर अकेले में, वह कुछ करे, रह-रहकर वही वह याद—वही वह मरने की बात उसके सामने ही रहती है और उसका चित्त बेबस हो जाता है।

वह उठी। अब उठकर बरतनों को माँज डालेगी, चौका भी साफ करना है। आह! खाली बैठी मैं क्या सोचती रहा करती हूँ।

इतने में कालिन्दीचरण चौके में घुसे।

सुनन्दा कठोरतापूर्वक शून्य को ही देखती रही। उसने पति की ओर नहीं देखा।

कालिन्दी ने कहा, "सुनन्दा, खानेवाले हम चार हैं। खाना हो गया?"

सुनन्दा चून की थाली और चकला-बेलन और बटलोई वगैरह खाली बरतन उठाकर चल दी, कुछ भी बोली नहीं।

कालिन्दी ने कहा, "सुनती हो, तीन आदमी मेरे साथ और हैं। खाना बन सके तो कहो; नहीं तो इतने में ही काम चला लेंगे।"

सुनन्दा कुछ भी नहीं बोली। उसके मन में बेहद गुस्सा उठने लगा। वे उससे क्षमाप्रार्थी-से क्यों बात कर रहे हैं, हँसकर क्यों नहीं कह देते कि कुछ और खाना बना दो। जैसे मैं गैर हूँ। अच्छी बात है, तो मैं भी गुलाम नहीं हूँ कि इनके ही काम में लगी रहूँ। मैं कुछ नहीं जानती खाना-वाना। और वह चुप रही।

कालिन्दीचरण ने जरा जोर से कहा, "सुनन्दा!"

सुनन्दा के जी में ऐसा हुआ कि हाथ की बटलोई को खूब जोर से फेंक दे। किसी का गुस्सा सहने के लिए वह नहीं है। उसे तनिक भी सुध न रही कि अभी बैठ-बैठे इन्हीं अपने पति के बारे में कैसी प्रीति की और भलाई की बातें

सोच रही थी। इस वक्त भीतर-ही-भीतर गुस्से से घुटकर रह गयी।

"क्यों! बोल भी नहीं सकतीं?"

सुनन्दा नहीं ही बोली।

"तो अच्छी बात है। खाना कोई भी नहीं खायेगा।"

यह कहकर कालिन्दी तैश में पैर पटकते हुए लौटकर चले गये।

कालिन्दीचरण अपने दल में उग्र नहीं समझे जाते, किसी कदर उदार समझे जाते हैं। सदस्य अधिकतर अविवाहित हैं, कालिन्दीचरण विवाहित ही नहीं हैं, वह एक बच्चा खो चुके हैं। उनकी बात का दल में आदर है। कुछ लोग उनके धीमेपन पर रुष्ट भी हैं। वह दल में विवेक के प्रतिनिधि हैं और उत्ताप पर अंकुश का काम करते हैं।

बहस इतनी बात पर थी कि कालिन्दी का मत था कि हमें आतंक को छोड़ने की ओर बढ़ना चाहिए। आतंक से विवेक कुण्ठित होता है और या तो मनुष्य उससे उत्तेजित ही रहता है, या उसके भय से दबा रहता है। दोनों ही स्थितियाँ श्रेष्ठ नहीं हैं। हमारा लक्ष्य बुद्धि को चारों ओर से जगाना है, उसे आतंकित करना नहीं। सरकार व्यक्ति के और राष्ट्र के विकास के ऊपर बैठकर उसे दबाना चाहती है। हम इसी विकास के अवरोध को हटाना चाहते हैं—इसी को मुक्त करना चाहते हैं। आतंक से वह काम नहीं होगा। जो शक्ति के मद में उन्मत्त है, असली काम तो उसका मद उतारने और उसमें कर्त्तव्य-भावना का प्रकाश जगाने का है। हम स्वीकार करें कि मद उसकी टक्कर खाकर, चोट पाकर ही उतरेगा। यह चोट देने के लिए हमें अवश्य तैयार रहना चाहिए; पर यह नोचा-नोची उपयुक्त नहीं। इससे सत्ता का कुछ बिगड़ता तो नहीं, उल्टे उसे अपने औचित्य पर सन्तोष हो आता है।

पर जब (सुनन्दा के पास से) लौटकर आया, तब देखा गया कि कालिन्दी अपने पक्ष पर दृढ़ नहीं है। वह सहमत हो सकता है कि हाँ, आतंक जरूरी भी है। 'हाँ', उसने कहा, 'यह ठीक है कि हम लोग कुछ काम शुरू कर दें।' इसके साथ ही कहा, 'आप लोगों को भूख नहीं लगी है क्या? उनकी तबियत खराब है, इससे यहाँ तो खाना बना नहीं। बताओ क्या किया जाय? कहीं होटल चलें?'

एक ने कहा कि कुछ बाजार से यहीं मँगा लेना चाहिए। दूसरे की राय

की वही-वही बातें याद आती हैं—वे बड़ी प्यारी आँखें, अँगुलियाँ और नन्हें-नन्हें ओंठ याद आते हैं—अठखेलियाँ याद आती हैं। सबसे ज्यादा उसका मरना याद आता है। ओह! यह मरना क्या है। इस मरने की तरफ उससे देखा नहीं जाता। यद्यपि वह जानती है कि मरना सबको है—उसको मरना है, उसके पति को मरना है; पर उस तरफ भूल से छन-भर देखती है, तो भय से भर जाती है। यह उससे सहा नहीं जाता। बच्चे की याद उसे मथ उठती है। वह विह्वल होकर आँख पोंछती है और हठात् इधर-उधर की किसी काम की बात में अपने को उलझा लेना चाहती है; पर अकेले में, वह कुछ करे, रह-रहकर वही वह याद—वही वह मरने की बात उसके सामने ही रहती है और उसका चित्त बेबस हो जाता है।

वह उठी। अब उठकर बरतनों को माँज डालेगी, चौका भी साफ करना है। आह! खाली बैठी मैं क्या सोचती रहा करती हूँ।

इतने में कालिन्दीचरण चौके में घुसे।

सुनन्दा कठोरतापूर्वक शून्य को ही देखती रही। उसने पति की ओर नहीं देखा।

कालिन्दी ने कहा, "सुनन्दा, खानेवाले हम चार हैं। खाना हो गया?"

सुनन्दा चून की थाली और चकला-बेलन और बटलोई वगैरह खाली बरतन उठाकर चल दी, कुछ भी बोली नहीं।

कालिन्दी ने कहा, "सुनती हो, तीन आदमी मेरे साथ और हैं। खाना बन सके तो कहो; नहीं तो इतने में ही काम चला लेंगे।"

सुनन्दा कुछ भी नहीं बोली। उसके मन में बेहद गुस्सा उठने लगा। वे उससे क्षमाप्रार्थी-से क्यों बात कर रहे हैं, हँसकर क्यों नहीं कह देते कि कुछ और खाना बना दो। जैसे मैं गैर हूँ। अच्छी बात है, तो मैं भी गुलाम नहीं हूँ कि इनके ही काम में लगी रहूँ। मैं कुछ नहीं जानती खाना-वाना। और वह चुप रही।

कालिन्दीचरण ने जरा जोर से कहा, "सुनन्दा!"

सुनन्दा के जी में ऐसा हुआ कि हाथ की बटलोई को खूब जोर से फेंक दे। किसी का गुस्सा सहने के लिए वह नहीं है। उसे तनिक भी सुध न रही कि अभी बैठ-बैठे इन्हीं अपने पति के बारे में कैसी प्रीति की और भलाई की बातें

सोच रही थी। इस वक्त भीतर-ही-भीतर गुस्से से घुटकर रह गयी।

"क्यों ! बोल भी नहीं सकतीं ?"

सुनन्दा नहीं ही बोली।

"तो अच्छी बात है। खाना कोई भी नहीं खायेगा।"

यह कहकर कालिन्दी तैश में पैर पटकते हुए लौटकर चले गये।

कालिन्दीचरण अपने दल में उग्र नहीं समझे जाते, किसी कदर उदार समझे जाते हैं। सदस्य अधिकतर अविवाहित हैं, कालिन्दीचरण विवाहित ही नहीं हैं, वह एक बच्चा खो चुके हैं। उनकी बात का दल में आदर है। कुछ लोग उनके धीमेपन पर रुष्ट भी हैं। वह दल में विवेक के प्रतिनिधि हैं और उत्ताप पर अंकुश का काम करते हैं।

बहस इतनी बात पर थी कि कालिन्दी का मत था कि हमें आतंक को छोड़ने की ओर बढ़ना चाहिए। आतंक से विवेक कुण्ठित होता है और या तो मनुष्य उससे उत्तेजित ही रहता है, या उसके भय से दबा रहता है। दोनों ही स्थितियाँ श्रेष्ठ नहीं हैं। हमारा लक्ष्य बुद्धि को चारों ओर से जगाना है, उसे आतंकित करना नहीं। सरकार व्यक्ति के और राष्ट्र के विकास के ऊपर बैठकर उसे दबाना चाहती है। हम इसी विकास के अवरोध को हटाना चाहते हैं—इसी को मुक्त करना चाहते हैं। आतंक से वह काम नहीं होगा। जो शक्ति के मद में उन्मत्त है, असली काम तो उसका मद उतारने और उसमें कर्त्तव्य-भावना का प्रकाश जगाने का है। हम स्वीकार करें कि मद उसकी टक्कर खाकर, चोट पाकर ही उतरेगा। यह चोट देने के लिए हमें अवश्य तैयार रहना चाहिए; पर यह नोचा-नोची उपयुक्त नहीं। इससे सत्ता का कुछ बिगड़ता तो नहीं, उल्टे उसे अपने औचित्य पर सन्तोष हो आता है।

पर जब (सुनन्दा के पास से) लौटकर आया, तब देखा गया कि कालिन्दी अपने पक्ष पर दृढ़ नहीं है। वह सहमत हो सकता है कि हाँ, आतंक जरूरी भी है। 'हाँ', उसने कहा, 'यह ठीक है कि हम लोग कुछ काम शुरू कर दें।' इसके साथ ही कहा, 'आप लोगों को भूख नहीं लगी है क्या ? उनकी तबियत खराब है, इससे यहाँ तो खाना बना नहीं। बताओ क्या किया जाय ? कहीं होटल चलें ?'

एक ने कहा कि कुछ बाजार से यहीं मँगा लेना चाहिए। दूसरे की राय

हुई कि होटल ही चलना चाहिए। इसी तरह की बातों में लगे थे कि सुनन्दा ने एक बड़ी थाली में खाना परोसकर उनके बीच ला रखा। रखकर वह चुपचाप चली गयी। फिर आकर पास ही चार गिलास पानी के रख दिये और फिर उसी भाँति चुपचाप चली गयी।

कालिन्दी को जैसे किसी ने काट लिया।

तीनों मित्र चुप हो रहे। उन्हें अनुभव हो रहा था कि पति-पत्नी के बीच स्थिति में कहीं कुछ तनाव पड़ा हुआ है। अन्त में एक ने कहा, "कालिन्दी, तुम तो कहते थे, खाना नहीं है?"

कालिन्दी ने झेंपकर कहा, "मेरा मतलब था, काफी नहीं है।"

दूसरे ने कहा, "बहुत काफी है। सब चल जायगा।"

"देखूँ, कुछ और हो तो," कहकर कालिन्दी उठ गया।

आकर सुनन्दा से बोला, "यह तुमसे किसने कहा था कि खाना वहाँ ले आओ? मैंने क्या कहा था?"

सुनन्दा कुछ न बोली।

"चलो, उठाकर लाओ थाली। हममें किसी को यहाँ नहीं खाना है। हम होटल जायँगे।"

सुनन्दा नहीं बोली। कालिन्दी भी कुछ देर गुम खड़ा था। तरह-तरह की बातें उसके मन में और कण्ठ में आती थीं। उसे अपना अपमान मालूम हो रहा था, और अपमान उसे असह्य था।

उसने कहा, "सुनती नहीं हो कि कोई क्या कह रहा है! क्यों?"

सुनन्दा ने और मुँह फेर लिया।

"क्या मैं बकते रहने के लिए हूँ?"

सुनन्दा भीतर-ही-भीतर घुट गयी।

"मैं पूछता हूँ कि जब मैं कह गया था, तब खाना ले जाने की क्या जरूरत थी?"

सुनन्दा ने मुड़कर और अपने को दबाकर धीमे से कहा, "खाओगे नहीं? एक तो बज गया।"

कालिन्दी निरस्त्र होने लगा। यह उसे बुरा मालूम हुआ। उसने मानो धमकी के साथ पूछा, "खाना और है?"

सुनन्दा ने धीमे से कहा, "अचार लेते जाओ।"

"खाना और नहीं है ? अच्छा, लाओ अचार।"

सुनन्दा ने अचार ला दिया और लेकर कालिन्दी भी चला गया।

सुनन्दा ने अपने लिए कुछ भी बचाकर नहीं रखा था। उसे यह सूझा ही न था कि उसे भी खाना है। अब कालिन्दी के लौटने पर उसे जैसे मालूम हुआ कि उसने अपने लिए कुछ भी बचाकर नहीं रखा है। वह अपने से रुष्ट हुई। उसका मन कठोर हुआ; इसलिए नहीं कि उसने खाना क्यों नहीं बचाया। इस पर तो उसमें स्वाभिमान का भाव जागता था। मन कठोर यों हुआ कि वह इस तरह की बातें सोचती ही क्यों है ? छिः ! यह भी सोचने की बात है ! और उसमें कड़वाहट भी फैली। हठात यह उसके मन को लगता ही है कि देखो, उन्होंने एक बार भी नहीं पूछा कि तुम क्या खाओगी ! क्या मैं यह सह सकती थी कि मैं तो खाऊँ और उनके मित्र भूखे रहें, पर पूछ लेते तो क्या था। इस बात पर उसका मन टूटता-सा है। मानो उसका जो तनिक-सा मान था, वह भी कुचल गया हो। पर वह रह-रहकर अपने को स्वयं अपमानित कर लेती हुई कहती है कि छिः ! छिः ! सुनन्दा, तुझे ऐसी ज़रा-सी बात का अब तक ख्याल होता है ! तुझे खुश होना चाहिए कि उनके लिए एक रोज भूखे रहने का तुझे पुण्य मिला। मैं क्यों उन्हें नाराज करती हूँ ? अब से नाराज न करूँगी, पर वह अपने तन की भी सुध तो नहीं रखते ! यह ठीक नहीं है। मैं क्या करूँ !

और वह अपने बरतन माँजने में लग गयी। उसे सुन पड़ा कि वे लोग फिर जोर-शोर से बहस करने में लग गये हैं। बीच-बीच में हँसी के कहकहे भी उसे सुनायी दिये। 'ओह !' सहसा उसे ख्याल हुआ, 'बरतन तो पीछे भी मल सकती हूँ, लेकिन उन्हें कुछ जरूरत हुई तो ?' यह सोच, झटपट हाथ धो वह कमरे के दरवाजे के बाहर दीवार से लगकर खड़ी हो गयी।

एक मित्र ने कहा, "अचार और है ? अचार और मँगाओ यार !"

कालिन्दी ने अभ्यासवश जोर से पुकारा, "अचार लाना भई, अचार।" मानो सुनन्दा कहीं बहुत दूर हो, पर वह तो बाहर द्वार से लगी खड़ी ही थी। उसने चुपचाप अचार लाकर रख दिया।

जाने लगी, तो कालिन्दी ने तनिक स्निग्ध वाणी से कहा, "थोड़ा पानी भी लाना।"

और सुनन्दा ने पानी ला दिया। देकर लौटी और फिर बाहर द्वार से लगकर ओट में खड़ी हो गयी। जिससे कालिन्दी कुछ माँगे, तो जल्दी से ला दे।

गैंग्रीन

अज्ञेय

दोपहर में उस घर के सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मँड़रा रही हो, उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझिल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था···

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देखकर, पहचानकर उसकी मुरझायी हुई मुख-मुद्रा तनिक से मीठे विस्मय से जगी-सी और फिर पूर्ववत् हो गयी। उसने कहा, "आ जाओ।" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँचकर मैंने पूछा, "वे यहाँ नहीं हैं?"

"अभी आये नहीं, दफ्तर में हैं। थोड़ी देर में आ जायेंगे। कोई डेढ़-दो बजे आया करते हैं।"

"कब के गये हुए हैं?"

"सबेरे उठते ही चले जाते हैं—"

मैं 'हूँ' कहकर पूछने को हुआ, 'और तुम इतनी देर क्या करती हो?' पर फिर सोचा, आते ही एकाएक यह प्रश्न ठीक नहीं है। मैं कमरे के चारों ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लायी, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा, "नहीं, मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए।" पर वह नहीं मानी, बोली, "वाह! चाहिए कैसे नहीं? इतनी धूप में आये हो। यहाँ तो—"

जाने लगी, तो कालिन्दी ने तनिक स्निग्ध वाणी से कहा, "थोड़ा पानी भी लाना।"

और सुनन्दा ने पानी ला दिया। देकर लौटी और फिर बाहर द्वार से लगकर ओट में खड़ी हो गयी। जिससे कालिन्दी कुछ माँगे, तो जल्दी से ला दे।

गैंग्रीन

अज्ञेय

दोपहर में उस घर के सूने आँगन में पैर रखते ही मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो उस पर किसी शाप की छाया मँड़रा रही हो, उसके वातावरण में कुछ ऐसा अकथ्य, अस्पृश्य, किन्तु फिर भी बोझिल और प्रकम्पमय और घना-सा फैल रहा था···

मेरी आहट सुनते ही मालती बाहर निकली। मुझे देखकर, पहचानकर उसकी मुरझायी हुई मुख-मुद्रा तनिक से मीठे विस्मय से जगी-सी और फिर पूर्ववत् हो गयी। उसने कहा, "आ जाओ।" और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये भीतर की ओर चली। मैं भी उसके पीछे हो लिया।

भीतर पहुँचकर मैंने पूछा, "वे यहाँ नहीं हैं ?"

"अभी आये नहीं, दफ्तर में हैं। थोड़ी देर में आ जायेंगे। कोई डेढ़-दो बजे आया करते हैं।"

"कब के गये हुए हैं ?"

"सबेरे उठते ही चले जाते हैं—"

मैं 'हूँ' कहकर पूछने को हुआ, 'और तुम इतनी देर क्या करती हो?' पर फिर सोचा, आते ही एकाएक यह प्रश्न ठीक नहीं है। मैं कमरे के चारों ओर देखने लगा।

मालती एक पंखा उठा लायी, और मुझे हवा करने लगी। मैंने आपत्ति करते हुए कहा, "नहीं, मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए।" पर वह नहीं मानी, बोली, "वाह ! चाहिए कैसे नहीं ? इतनी धूप में आये हो। यहाँ तो—"

मैंने कहा, "अच्छा, लाओ मुझे दे दो।"

वह शायद 'ना' करनेवाली थी, पर तभी दूसरे कमरे से शिशु के रोने की आवाज़ सुनकर उसने चुपचाप पंखा मुझे दे दिया और घुटनों पर हाथ टेककर एक थकी हुई, 'हुँह' करके उठी और भीतर चली गयी।

मैं उसके जाते हुए दुबले शरीर को देखकर सोचता रहा—यह क्या है··· यह कैसी छाया-सी इस घर में छायी हुई है···

मालती मेरी दूर के रिश्ते की बहन है, किन्तु उसे सखी कहना ही उचित है, क्योंकि हमारा परम्परा सम्बन्ध सख्य का ही रहा है। हम बचपन से इकट्ठे खेले हैं, इकट्ठे लड़े और पिटे हैं, और हमारी पढ़ाई भी बहुत-सी इकट्ठे ही हुई थी। और हमारे व्यवहार में सदा सख्य की स्वेच्छा और स्वच्छन्दता रही है, वह कभी भ्रातृत्व के, या बड़े-छोटेपन के बन्धनों में नहीं घिरा···

मैं आज कोई चार वर्ष बाद उसे देखने आया हूँ। जब मैंने उसे इससे पूर्व देखा था, तब वह लड़की ही थी। अब वह विवाहिता है, एक बच्चे की माँ भी है। इससे कोई परिवर्तन उसमें आया होगा और यदि आया होगा तो क्या, मैंने अभी तक सोचा नहीं था; किन्तु अब उसकी पीठ की ओर देखता हुआ मैं सोच रहा था, यह कैसी छाया इस घर पर छाई हुई है···और विशेष-तया मालती पर···

मालती बच्चे को लेकर लौट आयी और फिर मुझसे कुछ दूर नीचे बिछी हुई दरी पर बैठ गयी। मैंने अपनी कुर्सी घुमाकर कुछ उसकी ओर उन्मुख होकर पूछा, "इसका नाम क्या है?"

मालती ने बच्चे की ओर देखते हुए उत्तर दिया, "नाम तो कोई निश्चित नहीं किया, वैसे टिटी कहते हैं।"

मैंने उसे बुलाया, "टिटी! टिटी! आ जा?" पर वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से मेरी ओर देखता हुआ अपनी माँ से चिपट गया, और रुआँसा-सा होकर कहने लगा, "उहूँ-उहूँ-ऊँ···"

मालती ने फिर उसकी ओर एक नज़र देखा, और फिर बाहर आँगन की ओर देखने लगी···

काफी देर मौन रहा। थोड़ी देर तक तो मौन आकस्मिक ही था, जिसमें मैं प्रतीक्षा में था कि मालती कुछ पूछे; किन्तु उसके बाद एकाएक मुझे ध्यान

हुआ, मालती ने कोई बात ही नहीं की—यह भी नहीं पूछा कि मैं कैसे हूँ, कैसे आया हूँ,—चुप बैठी है, क्या विवाह के दो वर्ष में ही वह बीते दिन भूल गयी ? या अब मुझे दूर—इस विशेष अन्तर पर—रखना चाहती है ? क्योंकि वह निर्बाध स्वच्छन्दता अब तो नहीं हो सकती···पर फिर भी, ऐसा मौन, जैसा अजनबी से भी नहीं होना चाहिए···

मैंने कुछ खिन्न-सा होकर, दूसरी ओर देखते हुए कहा, "जान पड़ता है तुम्हें मेरे आने से विशेष प्रसन्नता नहीं हुई।"

उसने एकाएक चौंककर कहा, "हूँ?"

यह 'हूँ' प्रश्नसूचक था, किन्तु इसलिए नहीं कि मालती ने मेरी बात सुनी नहीं थीं, केवल विस्मय के कारण। इसीलिए मैंने अपनी बात दोहरायी नहीं, चुप बैठ रहा। मालती कुछ बोली ही नहीं, तब थोड़ी देर बाद मैंने उसकी ओर देखा। वह एकटक मेरी ओर देख रही थी, किन्तु मेरे उधर उन्मुख होते ही उसने आँखें नीची कर लीं। फिर भी मैंने देखा—उन आँखों में कुछ विचित्र-सा था, मानो मालती के भीतर कहीं कुछ चेष्टा कर रहा हो, किसी बीती हुई बात को याद करने की, किसी बिखरे हुए वायुमण्डल को पुनः जगाकर गतिमान करने की, किसी टूटे हुए व्यवहार-तन्तु को पुनरुज्जीवित करने की और चेष्टा में सफल न हो रहा हो···वैसे जैसे बहुत देर से प्रयोग में न लाया हुआ अंग कोई व्यक्ति एकाएक उठाने लगे और पाये कि वह उठता नहीं है, चिरविस्मृति में मानो मर गया है, उतने क्षीण बल से (यद्यपि वह सारा प्राप्य बल है) नहीं उठ सकता···मुझे ऐसा जान पड़ा, मानो किसी जीवित प्राणी के गले में किसी मृत जन्तु का तौक डाल दिया गया हो, वह उसे उतारकर फेंकना चाहे, पर उतार न पाये···

तभी किसी ने द्वार खटखटाये। मैंने मालती की ओर देखा, पर वह हिली नहीं। जब किवाड़ दूसरी बार खटखटाये गये, तब वह शिशु को अलग करके उठी और किवाड़ खोलने गयी।

वे, यानी मालती के पति आये। मैंने उन्हें पहली ही बार देखा था यद्यपि फोटो से उन्हें पहचानता था। परिचय हुआ। मालती खाना तैयार करने आँगन में चली गयी, और हम दोनों भीतर बैठकर बातचीत करने लगे—उनकी नौकरी के बारे में, उनके जीवन के बारे में, उस स्थान के बारे में,

आबोहवा के बारे में और ऐसे अन्य विषयों के बारे में, जो पहले परिचय पर उठा करते हैं, एक तरह का स्वरक्षात्मक कवच बनकर…

मालती के पति का नाम है महेश्वर। वे एक पहाड़ी गाँव में सरकारी डिस्पेंसरी के डाक्टर हैं। उसी हैसियत से इस क्वार्टर में रहते हैं। प्रातःकाल सात बजे डिस्पेंसरी चले जाते हैं और डेढ़ या दो बजे लौटते हैं। उसके बाद दोपहर-भर छुट्टी रहती है, केवल शाम को एक-दो घण्टे चक्कर लगाने के लिए चले जाते हैं, डिस्पेंसरी के साथ के छोटे से अस्पताल में पड़े हुए रोगियों को देखने और अन्य जरूरी हिदायतें करने—उनका जीवन भी बिल्कुल एक निर्दिष्ट ढर्रे पर चलता है। नित्य वही काम, उसी प्रकार के मरीज़, वही हिदायत, वही नुस्खे, वही दवाइयाँ…वह स्वयं उकताये हुए हैं, और इसलिए और साथ ही इस भयंकर गर्मी के कारण वे अपने फ़ुरसत के समय में भी सुस्त ही रहते हैं…

मालती हम दोनों के लिए खाना ले आयी। मैंने पूछा, "तुम नहीं खाओगी ? या खा चुकी ?"

महेश्वर बोले, कुछ हँसकर, "वह पीछे खाया करती है…।"

पति ढाई बजे खाना खाने आते हैं, इसलिए पत्नी तीन बजे तक भूखी बैठी रहेगी !

महेश्वर खाना आरम्भ करते हुए मेरी ओर देखकर बोले, "आपको तो खाने का मज़ा ही क्या आयेगा ऐसे बेवक़्त खा रहे हैं !'

मैंने उत्तर दिया, "वाह ! देर से खाने पर तो और भी अच्छा लगता है—भूख बढ़ी हुई होती है। पर शायद मालती बहन को कष्ट होगा—"

मालती टोककर बोली, "उहूँ, मेरे लिए तो यह नयी बात नहीं है—रोज़ ही ऐसा होता है…"

मालती बच्चे को गोद में लिये हुए थी। बच्चा रो रहा था; पर उसकी ओर कोई भी ध्यान नहीं दे रहा था।

मैंने कहा, "यह रोता क्यों है ?"

मालती बोली, "हो ही गया है चिड़चिड़ा-सा, हमेशा ही ऐसा रहता है।" फिर बच्चे को डाँटकर कहा, "चुप कर !" जिससे वह और भी रोने लगा। मालती ने भूमि पर बैठा दिया और बोली, "अच्छा ले, रो ले !" और रोटी

लेने आँगन की ओर चली गयी !

जब हमने भोजन समाप्त किया, तीन बजनेवाले थे। महेश्वर ने बताया कि उन्हें आज जल्दी अस्पताल जाना है, वहाँ एक-दो चिन्ताजनक केस आये हुए हैं, जिनका आपरेशन करना पड़ेगा—दो की शायद टाँगें काटनी पड़ें, गैंग्रीन हो गया है—थोड़ी ही देर में वह चले गये। मालती किवाड़ बन्द कर आयी और मेरे पास बैठने ही लगी थी कि मैंने कहा, "अब खाना तो खा लो, मैं उतनी देर टिटी से खेलता हूँ।"

वह बोली, "खा लूँगी, मेरे खाने की कौन बात है।" किन्तु चली गयी। मैं टिटी को हाथ में लेकर झुलाने लगा, जिससे वह कुछ देर के लिए शान्त हो गया।

दूर—शायद अस्पताल में ही, तीन खड़के। एकाएक मैं चौंका। मैंने सुना, मालती वहीं आँगन में बैठी, अपने-आप ही, एक लम्बी-सी, थकी हुई साँस के साथ कह रही है—'तीन बज गये···' मानो बड़ी तपस्या के बाद कोई कार्य सम्पन्न हो गया हो···

थोड़ी ही देर में मालती फिर आ गयी। मैंने पूछा, "तुम्हारे लिए कुछ बचा भी था ? सब कुछ तो···"

"बहुत था—"

"हाँ बहुत था ! भाजी तो सारी मैं ही खा गया था, वहाँ बचा कुछ होगा नहीं, यों ही रोब तो न जमाओ कि बहुत था !" मैंने हँसकर कहा।

मालती मानो किसी और विषय की बात कहती हुई, बोली, "यहाँ सब्जी-वब्जी तो कुछ होती नहीं, कोई आ जाता है, तो नीचे से मँगा लेते हैं। मुझे आये पन्द्रह दिन हुए हैं, जो सब्जी साथ लाये थे, वही अभी बरती जा रही है···"

मैंने पूछा, "नौकर कोई नहीं है ?"

"कोई ठीक मिला नहीं, शायद दो-एक दिन में हो जाय।"

"बर्तन भी तुम्हीं माँजती हो ?"

"और कौन ?" कहकर मालती क्षण-भर आँगन में जाकर लौट आयी।

मैंने पूछा, "कहाँ गयी थीं ?"

"आज पानी ही नहीं है, बर्तन कैसे मँजेंगे।"

"क्यों पानी को क्या हुआ !"

"रोज़ ही होता है— कभी वक्त पर आता नहीं। आज शाम को सात बजे आयेगा, तब बर्तन मँजेंगे।"

"चलो, तुम्हें सात बजे तक छुट्टी तो हुई।"—कहते हुए मैं मन-ही-मन सोचने—लगा 'अब इसे रात के ग्यारह बजे तक काम करना पड़ेगा, छुट्टी क्या खाक हुई !'

यही उसने कहा। मेरे पास कोई उत्तर नहीं था; पर मेरी सहायता टिटी ने की, एकाएक फिर रोने लगा और मालती के पास जाने की चेष्टा करने लगा। मैंने उसे दे दिया।

थोड़ी देर फिर मौन रहा। मैंने जेब से अपनी नोटबुक निकाली, और पिछले दिनों के लिखे हुए नोट देखने लगा। तब मालती को याद आया कि उसने मेरे आने का कारण तो पूछा नहीं और बोली, "यहाँ आये कैसे ?"

मैंने कहा ही तो, "अच्छा, अब याद आया ? तुमसे मिलने आया था, और क्या करने ?"

"तो दो-एक दिन रहोगे न ?"

"नहीं, कल चला जाऊँगा, ज़रूरी जाना है।"

मालती कुछ नहीं बोली, कुछ खिन्न-सी हो गयी। मैं फिर नोटबुक की तरफ देखने लगा।

थोड़ी देर बाद मुझे भी ध्यान हुआ, मैं आया तो हूँ मालती से मिलने, किन्तु यहाँ वह बात करने को बैठी है और मैं पढ़ रहा हूँ ! पर बात भी क्या की जाय ? मुझे ऐसा लग रहा था कि इस घर पर जो छाया घिरी हुई है, वह अज्ञात रहकर भी मानो मुझे भी वश कर रही है, मैं भी वैसा ही नीरस, निर्जीव-सा हो रहा हूँ, जैसे—जैसे—हाँ, जैसे यह घर, जैसे मालती···

मैंने पूछा, "तुम कुछ पढ़ती-लिखती नहीं ?" मैं चारों ओर देखने लगा कि कहीं किताबें दीख पड़ें।

"यहाँ ?" कहकर मालती थोड़ा-सा हँस दी। वह हँसी कर रही थी, "यहाँ पढ़ने को है क्या ?"

मैंने कहा, "अच्छा, मैं वापस जाकर ज़रूर कुछ पुस्तकें भेजूँगा···" और वार्तालाप फिर समाप्त हो गया···

थोड़ी देर बाद मालती ने फिर पूछा, "आये कैसे हो, लारी में ?"

"पैदल।"

"इतनी दूर? बड़ी हिम्मत की!"

"आखिर तुमसे मिलने आया हूँ।"

"ऐसे ही आये हो?"

"नहीं, कुली पीछे आ रहा है, सामान लेकर। मैंने सोचा, बिस्तरा ले ही चलूँ।"

"अच्छा किया, यहाँ तो बस···" कहकर मालती चुप रह गयी। फिर बोली, "तब तुम थके होगे, लेट जाओ।"

"नहीं, बिल्कुल नहीं थका।"

"रहने भी दो, थके नहीं हैं! भला थके हैं?"

"और तुम क्या करोगी?"

"मैं बर्तन माँज रखती हूँ, पानी आयेगा तो धुल जायेंगे!"

मैंने कहा, "वाह!" क्योंकि और कोई बात मुझे सूझी नहीं···

थोड़ी देर में मालती उठी और चली गयी, टिटी को साथ लेकर। तब मैं भी लेट गया और छत की ओर देखने लगा, और सोचने लगा···मेरे विचारों के साथ आँगन से आती हुई बर्तनों के घिसने की खन-खन ध्वनि मिलकर एक विचित्र एकस्वरता उत्पन्न करने लगी, जिसके कारण मेरे अंग धीरे-धीरे ढीले पड़ने लगे, मैं ऊँघने लगा···

एकाएक वह एकस्वरता टूट गयी—मौन हो गया। इससे मेरी तन्द्रा भी टूटी, मैं उस मौन में सुनने लगा।

चार खड़क रहे थे, और इसी का पहला घण्टा सुनकर मालती रुक गयी थी—

वही तीन बजेवाली बात मैंने फिर देखी, अबकी और बार से भी उग्र रूप में। मैंने सुना, मालती एक बिल्कुल अनैच्छिक, अनुभूतिहीन नीरस, यन्त्रवत—वह भी थके हुए यन्त्र के-से स्वर में कह रही है—'चार बज गये···' मानो इस अनैच्छिक समय गिनने-गिनने में ही उसका मशीन-तुल्य जीवन बीतता हो, वैसे ही, जैसे मोटर का स्पीडोमीटर यन्त्रवत् फासला नापता जाता है, और यन्त्रवत् विश्रान्त स्वर में कहता है (किससे!) कि मैंने अपने अमित शून्य पथ का इतना अंश तय कर लिया···न जाने कब, कैसे मुझे नींद आ गयी···

× × ×

तब छह कभी के बज चुके थे, जब किसी के आने की आहट से मेरी नींद खुली और मैंने देखा कि महेश्वर लौट आये हैं, और उनके साथ ही बिस्तर लिये हुए मेरा कुली। मैं मुँह धोने को पानी माँगने ही को था कि मुझे याद आया, पानी नहीं होगा। मैंने हाथों में मुँह पोंछते-पोंछते महेश्वर से पूछा, "आपने बड़ी देर की ?"

उन्होंने किंचित् ग्लानि-भरे स्वर में कहा, "हाँ, आज वह गैंग्रीन का आपरेशन करना ही पड़ा। एक कर आया हूँ, दूसरे को एम्बुलेन्स में बड़े अस्पताल भिजवा दिया है।"

मैंने पूछा, "गैंग्रीन कैसे हो गया ?"

"एक काँटा चुभा था, उसी से हो गया। बड़े लापरवाह लोग होते हैं यहाँ के···।"

मैंने पूछा, "यहाँ आपको केस अच्छे मिल जाते हैं ? आय के लिहाज से नहीं, डाक्टरी के अभ्यास के लिए ?"

बोले, "हाँ, मिल ही जाते हैं। यही गैंग्रीन, हर दूसरे-चौथे दिन एक केस आ जाता है। नीचे बड़े अस्पतालों में भी···"

मालती आँगन से ही सुन रही थी, अब आ गयी, बोली, "हाँ, केस बनाते देर क्या लगती है ? काँटा चुभा था, उस पर टाँग काटनी पड़े, यह भी कोई डाक्टरी है ? हर दूसरे दिन किसी की टाँग, किसी की बाँह काट आते हैं, इसी का नाम है अच्छा अभ्यास।"

महेश्वर हँसे। बोले, "न काटें तो उसकी जान गँवायें ?"

"हाँ ! पहले तो दुनिया में काँटे ही नहीं होते होंगे ? आज तक तो सुना नहीं था कि काँटों के चुभने से मर जाते हों···"

महेश्वर ने उत्तर नहीं दिया, मुस्करा दिये। मालती मेरी ओर देखकर बोली, "ऐसे ही होते हैं डाक्टर ! सरकारी अस्पताल है न, क्या परवाह है ! मैं तो रोज़ ही ऐसी बातें सुनती हूँ। अब कोई मर-मुर जाय तो ख्याल ही नहीं होता। पहले तो रात-रात-भर नींद नहीं आया करती थी।"

तभी आँगन में खुले हुए नल ने कहा—टि्प, टिप्, टिप्, टिप्···मालती ने कहा—'पानी।' और उठकर चली गयी। खनखनाहट से हमने जाना, बर्तन धोये

जाने लगे हैं···

टिटी महेश्वर की टाँगों के सहारे खड़ा मेरी ओर देख रहा था। अब एकाएक उन्हें छोड़कर मालती की ओर खिसकता हुआ चला। महेश्वर ने कहा—'इधर मत जा।' और उसे गोद में उठा लिया। वह मचलने और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा।

महेश्वर बोले, "अब रो-धोकर सो जायगा, तभी घर में चैन होगी।"

मैंने पूछा, "आप लोग भीतर ही सोते हैं ? गर्मी तो बहुत होती है ?"

"होने को तो मच्छर भी बहुत होते हैं, पर ये लोहे के पलंग उठाकर बाहर कौन ले जाये। अब के नीचे जायेंगे, तो चारपाइयाँ ले आयेंगे।" फिर कुछ रुककर बोले, "आज तो बाहर ही सोयेंगे। आपके आने का इतना लाभ ही होगा।"

टिटी अभी तक रोता ही जा रहा था। महेश्वर ने उसे एक पलंग पर बिठा दिया, और पलंग बाहर खींचने लगे। मैंने कहा, "मैं मदद करता हूँ," और दूसरी ओर से पलंग उठाकर बाहर निकलवा दिये।

अब हम दोनों—महेश्वर, टिटी और मैं, दो पलंगों पर बैठ गये और वार्तालाप के लिए उपयुक्त विषय न पाकर उस कमी को छिपाने के लिए टिटी से खेलने लगे। बाहर आकर वह चुप हो गया था; किन्तु बीच-बीच में जैसे एकाएक कोई भूला हुआ कर्त्तव्य याद करके रो उठता था और फिर एकदम चुप हो जाता था···और तब कभी-कभी हम हँस पड़ते थे, या महेश्वर उसके बारे में कुछ बात कह देते थे···

मालती बर्तन धो चुकी थी। जब वह उन्हें लेकर आँगन के एक रसोई के छप्पर की ओर चली, तब महेश्वर ने कहा, 'थोड़े से आम लाया हूँ, वे भी धो लेना।"

"कहाँ हैं ?"

"अँगीठी पर रखे हैं—कागज़ में लिपटे हुए।"

मालती ने भीतर जाकर आम उठाये और अपने आँचल में डाल लिये। जिस कागज़ में वे लिपटे हुए थे, वह किसी पुराने अखबार का टुकड़ा था। मालती चलती-चलती सन्ध्या के उस क्षीण प्रकाश में उसी को पढ़ती जा रही थी···वह नल के पास जाकर खड़ी हो उसे पढ़ती रही, जब दोनों ओर पढ़ चुकी

तब एक लम्बी साँस लेकर उसे फेंककर आम धोने लगी।

मुझे एकाएक याद आया···बहुत दिनों की बात थी—जब हम अभी स्कूल में भरती हुए थे। जब हमारी सबसे बड़ी विजय थी, हाज़िरी हो चुकने के बाद चोरी से स्कूल से निकल भागना और स्कूल से कुछ दूर पर आम के बगीचे में पेड़ों पर चढ़कर कच्ची अमियाँ तोड़-तोड़कर खाना। मुझे याद आया—कभी जब मैं भाग आता था और मालती नहीं आ पाती थी, तब मैं खिन्न मन लौट जाता था···

मालती कुछ नहीं पढ़ती थी, उसके माता-पिता तंग थे। एक दिन उसके पिता ने उसे एक पुस्तक लाकर दी, और कहा कि इसके बीस पेज रोज़ पढ़ा करो। हफ़्ते-भर बाद मैं देखूँ कि इसे समाप्त कर चुकी हो। नहीं तो मार-मार-कर चमड़ी उधेड़ दूँगा। मालती ने चुपचाप किताब ले ली, पर क्या उसने पढ़ी? वह नित्य ही उसके दस पन्ने, बीस पेज फाड़कर फेंक देती। जब आठवें दिन उसके पिता ने पूछा, "किताब समाप्त कर ली?" तो उत्तर दिया, "हाँ, कर ली।" पिता ने कहा, "लाओ, मैं प्रश्न पूछूँगा।" तो चुप खड़ी रही। पिता ने फिर कहा, तो उद्धत स्वर में बोली, "किताब मैंने फाड़कर फेंक दी है। मैं नहीं पढ़ूँगी!"

उसके बाद वह बहुत पिटी, पर वह अलग बात है···इस समय मैं यही सोच रहा था कि वही उद्धत और चंचल मालती आज कितनी सीधी हो गयी है, कितनी शान्त, और एक अख़बार के टुकड़े को तरसती है···यह क्या है, यह···

तभी महेश्वर ने पूछा, "रोटी कब बनेगी?"

"बस अभी बनाती हूँ।"

पर अबकी बार जब मालती रसोई की ओर चली, तब टिटी की कर्त्तव्य-भावना बहुत विस्तीर्ण हो गयी। वह मालती की ओर हाथ बढ़ाकर रोने लगा और नहीं माना, नहीं माना। मालती उसे गोद में लेकर चली गयी। रसोई में बैठकर एक हाथ से उसे थपकाने और दूसरे हाथ से कई एक छोटे-छोटे डिब्बे उठाकर अपने सामने रखने लगी।···

और हम दोनों चुपचाप रात्रि की, और भोजन की, और एक-दूसरे के कुछ कहने की, और न जाने किस-किस न्यूनता की पूर्ति की प्रतीक्षा करने लगे।

× × ×

हम भोजन कर चुके थे और बिस्तर पर लेट गये थे और टिटी सो गया था, मालती पलंग के एक ओर मोमजामा बिछाकर उसे उस पर लिटा गयी थी। वह सो तो गया था; पर नींद में कभी-कभी चौंक उठता था। एक बार तो उठकर बैठ भी गया था—पर तुरन्त ही लेट गया।

मैंने महेश्वर से पूछा, "आप तो थके होंगे, सो जाइए!"

वह बोले, "थके तो आप अधिक होंगे—अठारह मील पैदल चलकर आये हैं।" किन्तु उनके स्वर ने मानों ज़ोर दिया—'थका तो मैं भी हूँ।'

मैं चुप हो रहा। थोड़ी देर में किसी अपर संज्ञा ने मुझे बताया, वह ऊँघ रहे हैं।

तब लगभग साढ़े दस बजे थे। मालती भोजन कर रही थी।

मैं थोड़ी देर मालती की ओर देखता रहा, वह किसी विचार में (यद्यपि बहुत गहरे विचार में नहीं) लीन हुई धीरे-धीरे खाना खा रही थी। फिर मैं इधर-उधर खिसककर, पलंग पर आराम से होकर, आकाश की ओर देखने लगा।

पूर्णिमा थी। आकाश अनभ्र था।

मैंने देखा—उस सरकारी क्वार्टर की दिन में अत्यन्त शुष्क और नीरस लगनेवाली, स्लेट की छत भी चाँदनी में चमक रही है, अत्यन्त शीतलता और स्निग्धता से छलक रही है, मानो चन्द्रिका उन पर से बहती हुई आ रही हो, झर रही हो···

मैंने देखा—पवन में चीड़ के वृक्ष—गर्मी से सूखकर मटमैले हुए चीड़ के वृक्ष—धीरे-धीरे गा रहे हैं—कोई राग जो कोमल है, किन्तु करुण नहीं; अशान्तिमय है, किन्तु उद्वेगमय नहीं···

मैंने देखा—प्रकाश से धुँधले नीले आकाश के तट पर जो चमगादड़ नीरव उड़ान से चक्कर काट रहे हैं, वे भी सुन्दर दीखते हैं···

मैंने देखा—दिन-भर तपन, अशान्ति, थकान, दाह, पहाड़ों में से भाप की नाईं उठकर वातावरण में खोये जा रहे हैं, और ऊपर से एक कोमल, शीतल, सम्मोहन, आह्लाद-सा बरस रहा है, जिसे ग्रहण करने के लिए पर्वत-शिशुओं ने अपनी चीड़-वृक्ष रूपी भुजाएँ आकाश की ओर बढ़ा रखी हैं···

पर यह सब मैंने ही देखा, अकेले मैंने···महेश्वर ऊँघ रहे थे, और मालती

उस समय भोजन से निवृत्त होकर, दही जमाने के लिए मिट्टी का बर्तन गर्म पानी से धो रही थी और कह रही थी, "बस, अभी छुट्टी हुई जाती है।" और मेरे कहने पर कि "ग्यारह बजनेवाले हैं" धीरे से सिर हिलाकर जता रही थी कि रोज़ ही इतने बज जाते हैं···मालती ने वह सबकुछ नहीं देखा। मालती का जीवन अपनी रोज़ की नियत गति से बहा जा रहा था और एक चन्द्रमा की चन्द्रिका के लिए, एक संसार के सौन्दर्य के लिए, रुकने को तैयार नहीं था···

चाँदनी में शिशु कैसा लगता है, इस अलस जिज्ञासा से मैंने टिटी की ओर देखा। और एकाएक मानो किसी शैशवोचित वामता से वह उठा और खिसककर पलंग के नीचे गिर पड़ा और चिल्ला-चिल्लाकर रोने लगा। महेश्वर ने चौंक-कर कहा, "क्या हुआ ?" मैं झपटकर उसे उठाने दौड़ा, मालती रसोई से बाहर निकल आयी, मैंने उस 'खट्' शब्द की याद करके धीरे से करुणा-भरे स्वर में कहा, "चोट बहुत लग गयी बेचारे के।"

यह सब मानो एक ही क्षण में, एक ही क्रिया की गति में हो गया।

मालती ने रोते हुए शिशु को मुझसे लेने के लिए हाथ बढ़ाते हुए कहा, "इसके चोटें लगती ही रहती हैं, रोज़ ही गिर पड़ता है।"

एक छोटे क्षण-भर के लिए मैं स्तब्ध हो गया। फिर एकाएक मेरे मन ने, समूचे अस्तित्व ने, विद्रोह के स्वर में कहा—कहा मेरे मन ने भीतर ही, बाहर एक शब्द भी नहीं निकला—'माँ! युवती माँ! यह तुम्हारे हृदय को क्या हो गया है जो तुम एकमात्र बच्चे के गिरने पर ऐसी बात कह सकती हो···और यह अभी, जब तुम्हारा सारा जीवन तुम्हारे आगे है!'

और, तब एकाएक मैंने जाना कि वह भावना मिथ्या नहीं है। मैंने देखा कि सचमुच उस कुटुम्ब में कोई गहरी, भयंकर छाया घर कर गयी है, उनके जीवन के इस पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गयी है, उनका इतना अभिन्न अंग हो गयी है कि वे उसे पहचानते ही नहीं, मैंने उस छाया को देख भी लिया।

इतनी देर में, पूर्ववत् शान्ति हो गयी थी! महेश्वर फिर लेटकर ऊँघ रहे थे। टिटी मालती के लेटे हुए शरीर से चिपटकर चुप हो गया था, यद्यपि कभी एक-आध सिसकी उसके छोटे से शरीर को हिला देती थी। मैं भी अनुभव करने लगा था कि बिस्तर अच्छा-सा लग रहा है। मालती चुपचाप आकाश में देख रही थी; किन्तु क्या चन्द्रमा को! या तारों को?···

तभी ग्यारह का घण्टा बजा। मैंने अपनी भारी हो रही पलकें उठाकर अकस्मात् किसी अस्पष्ट प्रतीक्षा से मालती की ओर देखा। ग्यारह के पहले घण्टे की खड़कन के साथ ही मालती की छाती एकाएक फफोले की भाँति उठी और धीरे-धीरे बैठने लगी और घण्टा-ध्वनि के कम्पन के साथ ही मूक हो जानेवाली आवाज में उसने कहा, "ग्यारह बज गये।..."

गदल

●

रांगेय राघव

बाहर शोर-गुल मचा ! डोड़ी ने पुकारा—कौन है ? कोई उत्तर नहीं मिला। आवाज आयी—हत्यारिन ! तुझे कतल कर दूँगा ।

स्त्री का स्वर आया—करके तो देख ! तेरे कुनबे डायन बनके न खा गयी, निपूते !

डोड़ी बैठा न रह सका । बाहर आया ।

—क्या करता है, क्या करता है, निहाल ?—डोड़ी बढ़कर चिल्लाया—आखिर तेरी मैया है ।

—मैया है !—कहकर निहाल हट गया ।

—अरे तू हाथ उठाके तो देख !—स्त्री ने फुफकारा—कढ़ी खाये ! तेरी सींक पर बिलियाँ चलवा दूँ ! समझ रखियो ! मत जान रखियो, हाँ ! तेरी आसरतू नहीं हूँ ।

—भाभी !—डोड़ी ने कहा—क्या बकती है ? होश में आ !

वह आगे बढ़ा । उसने मुड़कर कहा—जाओ सब ! तुम सब लोग जाओ !

निहाल हट गया । उसके साथ ही सब लोग इधर-उधर हो गये ।

डोड़ी निस्तब्ध छप्पर के नीचे लगा बरैंडा पकड़े खड़ा रहा । स्त्री वहीं बिखरी हुई-सी बैठी रही । उसकी आँखों में आग-सी जल रही थी ।

उसने कहा—मैं जानती हूँ, निहाल में इतनी हिम्मत नहीं । यह सब तैंने किया है, देवर !

—हाँ, गदल ।—डोड़ी ने धीरे से कहा—मैंने ही किया है !

गदल सिमट गयी—कहा क्यों, तुझे क्या जरूरत थी ?

डोड़ी कह नहीं सका। वह ऊपर से नीचे तक झनझना उठा ! पचास साल का वह लम्बा खारी गूजर, उसकी मूँछें खिचड़ी हो चुकी थीं, छप्पर तक पहुँचा-सा लगता था ! उसके कन्धे की चौड़ी हड्डियों पर अब दीवे का हल्का प्रकाश पड़ रहा था, उसके शरीर पर मोटी फतूही थी और उसकी धोती घुटनों के नीचे उतरने के पहले ही झूल देकर चुस्त-सी ऊपर की ओर लौट जाती थी ! उसका हाथ कर्रा था और वह इस समय निस्तब्ध खड़ा रहा।

स्त्री उठी। वह लगभग ४५-वर्षीया थी, उसका रंग गोरा होने पर भी आयु के धुँधलके में अब मैला-सा दीखने लगा था। उसको देखकर लगता था कि वह फुर्तीली थी। जीवन-भर कठोर मेहनत करने से, उसकी गठन के ढीले पड़ने पर भी, उसकी फुर्ती अभी तक मौजूद थी।

—तुझे शरम नहीं आती, गदल ?—डोड़ी ने पूछा।

—क्यों, शरम क्यों आयेगी ?—गदल ने पूछा।

डोड़ी क्षण-भर सकते में पड़ गया। भीतर के चौबारे से आवाज आयी—शरम क्यों आयेगी इसे ? शरम तो उसे आये, जिसकी आँखों में हया बची हो।

—निहाल !—डोड़ी चिल्लाया—तू चुप रह।

फिर आवाज बन्द हो गयी।

गदल ने कहा—मुझे क्यों बुलाया है तूने ?

डोड़ी ने इस बात का उत्तर नहीं दिया। पूछा—रोटी खायी है ?

—नहीं।—गदल ने कहा—खाती भी कब ? कमबखत रास्ते में मिले। खेत होकर लौट रही थी। रास्ते में अरने-कण्डे बीन करके लिये जा रही थी।

डोड़ी ने पुकारा—निहाल ! बहू से कह, अपनी सास को रोटी दे जाये।

भीतर से किसी स्त्री की ढीठ आवाज सुनायी दी—अरे, अब लौहारों की बैयर आयी हैं; उन्हें क्या गरीब खारियों की रोटी भायेगी ?

कुछ स्त्रियों ने ठहाका लगाया।

निहाल चिल्लाया—सुन ले परनेसुरी, जगहँसाई हो रही है। खारियों की तो तूने नाक कटाकर छोड़ी।

[२]

गुन्ना मरा, तो पचपन बरस का था। गदल विधवा हो गयी। गदल का बड़ा बेटा निहाल तीस बरस के पास पहुँच रहा था। उसकी बहू दुल्लो का बड़ा बेटा सात का, दूसरा चार का और तीसरी छोरी थी, जो उसकी गोद में थी। निहाल से छोटी तरा-ऊपर की दो बहनें थीं चम्पा और चमेली, जिनका, क्रमशः झाज और बिस्वारा गाँवों में ब्याह हुआ था। आज उनकी गोदियों से उनके लाल उतरकर धूल में घुटुरुव चलने लगे थे। अन्तिम पुत्र नरायन बाईस का था, जिसकी बहू दूसरे बच्चे की माँ होनेवाली थी। ऐसी गदल, इतना बड़ा परिवार छोड़कर चली गयी थी और बत्तीस साल के एक लौहारे गूजर के यहाँ जा बैठी थी।

डोड़ी गुन्ना का सगा भाई था। बहू थी, बच्चे भी हुए। सब मर गये। अपनी जगह अकेला रह गया। गुन्ना ने बड़ी-बड़ी कही, पर वह फिर अकेला ही रहा, उसने ब्याह नहीं किया, गदल ही के चूल्हे पर खाता रहा, कमाकर लाता, तो उसी को दे देता, उसी के बच्चों को अपना मानता, कभी उसने अलगाव नहीं किया। निहाल अपने चाचा पर जान देता था। और फिर खारी गूजर अपने को लौहारों से ऊँचा समझते थे।

गदल जिसके घर जा बैठी थी, उसका पूरा कुनबा था। उसने गदल की उम्र नहीं देखी, यह देखा कि खारी औरत है, पड़ी रहेगी। चूल्हे पर दम फूँकने-वाली की जरूरत भी थी।

आज ही गदल सवेरे गयी थी और शाम को उसके बेटे उसे फिर बाँध लाये थे। उसके नये पति मौनी को अभी पता नहीं हुआ होगा। मौनी रँडुआ था। उसकी भाभी जो पाँव फैलाकर मटक-मटककर छाछ बिलोती थी, दुल्लो सुनेगी, तो क्या कहेगी ?

गदल का मन विक्षोभ से भर उठा।

[३]

आधी रात हो चली थी। गदल वहीं पड़ी थी। डोड़ी वहीं बैठा चिलम फूँक रहा था।

उस सन्नाटे में डोड़ी ने धीरे से कहा—गदल !

—क्या है ?—गदल ने हौले से कहा।

—तू चली गयी न ?

गदल बोली नहीं। डोड़ी ने फिर कहा—सब चले जाते हैं। एक दिन तेरी देवरानी चली गयी, फिर एक-एक करके तेरे भतीजे चले गये। भैया भी चला गया। पर तू जैसे गयी वैसे तो कोई भी नहीं गया। जग हँसता है, जानती है?

गदल ने बरबराया—जगहँसाई से मैं नहीं डरती, देवर! जब चौदह की थी, तब तेरा भैया मुझे गाँव में देख गया था। तू उसके साथ तेल पिया लट्ठ लेकर मुझे लेने आया था न, तब? मैं आयी थी कि नहीं? तू सोचता होगा कि गदल की उमर गयी, अब उसे खसम की क्या जरूरत है? पर जानता है, मैं क्यों गयी?

—नहीं।

—तू तो बस यही सोचा करता होगा कि गदल गयी, अब पहले-सा रोटियों का आराम नहीं रहा। बहुएँ नहीं करेंगी तेरी चाकरी, देवर! तूने भाई से और मुझसे निभायी, तो मैंने भी तुझे अपना ही समझा। बोल, झूठ कहती हूँ?

—नहीं, गदल, मैंने कब कहा।

—बस यही बात है, देवर! अब मेरा यहाँ कौन है! मेरा मरद तो मर गया। जीते जी मैंने उसकी चाकरी की, उसके नाते उसके सब अपनों की चाकरी बजायी। पर जब मालिक ही न रहा, तो काहे को हड़कम्प उठाऊँ! यह लड़के, यह बहुएँ! मैं इनकी गुलामी नहीं करूँगी!

—पर क्या सब तेरी औलाद नहीं, बावरी? बिल्ली तक अपने जायों के लिए सात घर उलट-फेर करती है, फिर तू तो मानुस है। तेरी माया-ममता कहाँ चली गयी?

—देवर, तेरी कहाँ चली गयी थी, जो तूने ब्याह न किया?

—मुझे तेरा सहारा था, गदल!

—कायर! भैया तेरा मरा, कारज किया बेटे ने और फिर जब सब हो गया, तब तू मुझे रखकर घर नहीं बसा सकता था। तूने मुझे पेट के लिए पराई ड्योढ़ी लँघवायी। चूल्हा मैं तब फूँकूँ, जब मेरा कोई अपना हो। ऐसी बाँदी नहीं हूँ कि मेरी कुहनी बजे, औरों की बिछिया झनके। मैं तो पेट तब भरूँगी, जब पेट का मोल कर लूँगी। समझा, देवर! तूने तो नहीं कहा तब। अब कुनबे की नाक पर चोट पड़ी, तब सोचा, तब न सोचा, जब तेरी गदल को

बहुओं ने आँखें तरेरकर देखा। अरे, कौन किसी की परवाह करता है !

—गदल ! डोड़ी ने भर्राये स्वर से कहा—मैं डरता था।

—भला क्यों तो ?

—गदल, मैं बुड्ढा हूँ। डरता था, जग हँसेगा। बेटे सोचेंगे, शायद चाचा का अम्मा से पहले से ही नाता था, तभी तो चाचा ने दूसरा ब्याह नहीं किया। गदल, भैया की भी बदनामी होती न ?

—अरे, चल रहने दे !—गदल ने उत्तर दिया—भैया का बड़ा खयाल रहा तुझे ! तू नहीं था कारज में उनके क्या ? मेरे सुसर मरे थे, तब तेरे भैया ने बिरादरी को जिमाकर ओठों से पानी छुलाया था अपने। और तुम सबने कितने बुलाये ? तू भैया, दो बेटे। यही भैया हैं, यही बेटे हैं ? पच्चीस आदमी बुलाये कुल। क्यों आखिर ? कह दिया लड़ाई में कानून है। पुलस पचीस से ज्यादा होते ही पकड़ ले जायगी ! डरपोक कहीं के ! मैं नहीं रहती ऐसों के।

हठात् डोड़ी का स्वर बदला। कहा—मेरे रहते तू पराये मरद के घर जा बैठेगी ?

—हाँ।

—अबके तो कह !—वह उठकर बढ़ा।

—सौ बार कहूँ लाला।—गदल पड़ी बोली। डोड़ी बढ़ा।

—बढ़ !—गदल ने फुफकारा।

डोड़ी रुक गया। गदल देखती रही। डोड़ी जाकर बैठ गया। गदल देखती रही। फिर हँसी। कहा—तू मुझे करेगा ! तुझमें हिम्मत कहाँ है, देवर ? मेरा नया मरद है न ? मरद है। इतनी सुन तो ले भला। मुझे लगता है, तेरा भइया ही फिर मिल गया है मुझे। तू ?—वह रुकी—मरद है ? अरे कोई बैयर से घिघियाता है। बढ़कर जो तू मुझे मारता, तो मैं समझती, तू अपनापा मानता है। मैं इस घर में रहूँगी।

डोड़ी देखता ही रह गया। रात गहरी हो गयी। गदल ने लँहगे की पर्तें फैलाकर तन ढँक लिया। डोड़ी ऊँघने लगा।

[४]

ओसारे में दुल्लो ने अँगड़ाई लेकर कहा—आ गयी देवरानीजी। रात कहाँ रहीं ?

सूका डूब गया था। आकाश में पौ फट रही थी। बैल अब उठकर खड़े हो गये थे। हवा में एक ठण्डक थी।

गदल ने तड़ाक से जवाब दिया—सो, जिठानी मेरी! हुकुम नहीं चला मुझ पर। तेरी जैसी बेटियाँ हैं मेरी। देवर के नाते देवरानी हूँ, तेरी जूती नहीं।

दुल्लो सकपका गयी। मौनी उठा ही था। भन्नाया हुआ आया। बोला—कहाँ गयी थी?

गदल ने घूँघट खींच लिया, पर आवाज नहीं बदली। कहा—वही ले गये मुझे घेरकर। मौका पाके निकल आयी।

मौनी दब गया। मौनी का बाप बाहर से ही ढोर हाँक ले गया। मौनी बढ़ा।

—कहाँ जाता है?—गदल ने पूछा।

—खेतहार।

—पहले मेरा फैसला कर जा।—गदल ने कहा।

दुल्लो उस अधेड़ स्त्री के नक्शे देखकर अचरज में खड़ी रही।

—कैसा फैसला?—मौनी ने पूछा। वह उस बड़ी स्त्री से दब गया था।

—अब क्या तेरे घर-भर का पीसना पीसूँगी मैं?—गदल ने कहा—हम तो दो जने हैं। अलग करेंगे, खायेंगे।—उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह कहती रही—कमाई सामिल करो, मैं नहीं रोकती, पर भीतर तो अलग-अलग भले।

मौनी क्षण-भर सन्नाटे में खड़ा रहा। दुल्लो तिनककर निकली। बोली—अब चुप क्यों हो गया, देवर? बोलता क्यों नहीं? मेरी देवरानी लाया है कि सास! तेरी बोलती क्यों नहीं कढ़ती? ऐसा न समझियो तू मुझे! रोटी तवा पर पलटते मुझे भी आँच नहीं लगती, जो मैं इसकी खरी-खोटी सुन लूँगी, समझा? मेरी अम्मा ने भी मुझे चूल्हे की मट्टी खाके ही जना था।

—अरी तो, सौत!—गदल ने पुकारा—मट्टी न खाके आयी, सारे कुनबे को चबा जायेगी, डायन! ऐसी नहीं तेरी गुड़ की भेली है, जो न खायेंगे हम, तो रोटी गले में फन्दा मार जायेगी।

मौनी उत्तर नहीं दे सका। वह बाहर चला गया।

दुपहर हो गयी थी। दुल्लो बैठी चरखा कात रही थी। नरायन ने आकर आवाज दी—कोई है ?

दुल्लो ने घूँघट काढ़ लिया। पूछा—कौन हो ?

नरायन ने खूँन का घूट पीकर कहा—गदल का बेटा हूँ।

दुल्लो घूँघट में हँसी। पूछा—छोटे हो कि बड़े ?

—छोटा।

—और कितने हैं ?

—कित्ते भी हों। तुझे क्या ?—गदल ने निकलकर कहा।

—अरे आ गयी !—कहकर दुल्लो भीतर भागी।

—आने दे आज उसे। तुझे बता दूँगी, जिठानी।—गदल ने सिर हिलाकर कहा।

—अम्मा !—नरायन ने कहा—यह तेरी जिठानी है ?

—क्यों आया है तू, यह बता !—गदल झल्लायी।

—दण्ड धरवाने आया हूँ, अम्मा !—कहकर नरायन आगे बैठने को बढ़ा।

—वहीं रह।—गदल ने कहा।

उसी समय लोटा-डोर लिये मौनी लौटा। उसने देखा कि गदल ने अपने कड़े और हँसुली उतारकर फेंक दी और कहा—भर गया दण्ड तेरा। अब मत आइयो। समझ लीजो, थाने में रपट कर दूँगी कि मेरे मरद का सब माल दबाकर बहुओं के कहने से बेटों ने मुझे निकाल दिया है।

नरायन का मुँह स्याह पड़ गया। वह गहने उठाकर चला गया। मौनी मन-ही-मन शंकित-सा भीतर आया।

दुल्लो ने शिकायत की—सुना तूने, देवर ! देवरानी ने गहने दे दिये। घुटना आखिर पेट को ही मुड़ा। ऐसे चार जगह बैठेगी, तो बेटों के खेत की डौर पर डण्डा-थूआ तक लग जायेंगी। पक्का चबूतर घर के आगे बगबगायेगा। समझा देती हूँ। तुम भोले-भाले ठहरे। तिरिया चरित्तर तुम क्या जानो। धन्धा है, यह भी अब कहेगी, फिर बनवा मुझे।

गदल हँसी, कहा—वाह, जिठानी ! पुराने मरद का मोल नये मरद से तेरे घर की बैयर ही चुकवाती होंगी। गदल तो मालकिन बनकर रहती है, समझी। बाँदी बनकर नहीं। चाकरी करूँगी तो अपने मरद की, नहीं तो

विधना मेरे ठेंगे पर। समझी ! तू बीच में बोलनेवाली कौन ?

दुल्लो ने रोष से देखा और पाँव पटकती चली गयी।

मौनी ने देखा और कहा—बहुत बढ़-बढ़कर बातें मत हाँक। समझ ले, घर में बहू बनके रह।

—अरे तू तो तब पैदा भी नहीं हुआ था, बालम।—गदल ने मुस्करा-कर कहा—तब से मैं सब जानती हूँ। मुझे क्या सिखाता है तू ? ऐसा कोई मैंने काम नहीं किया है, जो बिरादरी के नेम के बाहर हो। जब तू देख मैंने ऐसी कोई बात की हो, तो हजार बार रोक, पर सौत की ठसक नहीं सहूँगी।

—तो बताऊँ तुझे।—वह सिर हिलाकर बोला।

गदल हँसकर ओबरी में चली गयी और काम में लग गयी।

[५]

ठण्डी हवा तेज हो गयी थी। डोड़ी चुपचाप बाहर छप्पर में बैठा हुक्का पी रहा था। पीते-पीते ऊब गया और उसने चिलम उलट दी और फिर बैठा रहा।

खेत से लौटकर निहाल ने बैल बाँधे, न्यार डाला और कहा—काका !

डोड़ी कुछ सोच रहा था। उसने सुना नहीं।

—काका !—निहाल ने स्वर उठाकर कहा।

—हैं !—डोड़ी चौंक उठा—क्या है ? मुझसे कहा कुछ ?

—तुमसे न कहूँगा, तो कहूँगा किससे ? दिन-भर तो तुम मिले नहीं। चिम्मन कढ़ेरा कहता था, तुमने दिन-भर मनमौजी बाबा की धूनी के पास बिताया। यह सच है ?

—हाँ, बेटा, चला तो गया था।

—क्यों गये थे भला ?

—ऐसे ही जी किया था, बेटा।

—और कस्बे से बनिये का आदमी आया था, घी कटऊ क्या कराया मैंने कहा नहीं है, वह बोला, लेके जाऊँगा। झगड़ा होते-होते बचा।

—ऐसा नहीं करते, बेटा।—डोड़ी ने कहा—बौहर से कोई झगड़ा मोल लेता है ?

निहाल ने चिलम उठायी, कण्डों में से आँच बीनकर धरी और फूँक

लगाता हुआ आया। कहा—मैं तो गया नहीं। सिर फूट जाते। नरायन को भेजा था।

—कहाँ ?—डोड़ी चौंका।

—उसी कुलच्छनी कुलबोरनी के पास।

—अपनी माँ के पास ?

—न जाने तुम्हें उससे क्या है, अब भी तुम्हें उस पर गुस्सा नहीं आता। उसे माँ कहूँगा मैं ?

—पर बेटा, तू न कह, जग तो उसे तेरी माँ ही कहेगा। जब तक मरद जीता है, लोग बैयर को मरद की बहू कहकर पुकारते हैं, जब मरद जाता है, तो लोग उसे बेटे की अम्मा कहकर पुकारते हैं। कोई नया नेम थोड़ा ही है।

निहाल भुनभुनाया। कहा—ठीक है, काका, ठीक है, पर तुमने अभी तक यह तो पूछा ही नहीं कि क्यों भेजा था उसे ?

—हाँ, बेटा।—डोड़ी ने चौंककर कहा—यह तो तूने बताया ही नहीं ! बता न ?

—दण्ड भरवाने भेजा था। सो पंचायत जुड़वाने के पहले ही उसने तो गहने उतार फेंके।

डोड़ी मुस्कराया। कहा—तो यह जता रही है कि घरवालों ने पंचायत भी नहीं जुड़वायी ? यानी हम उसे भगाना ही चाहते थे। नरायन ले आया ?

—हाँ।

डोड़ी सोचने लगा।

—मैं फेर आऊँ ?—निहाल ने पूछा।

—नहीं; बेटा।—डोड़ी ने कहा—यह सचमुच रूठकर ही गयी है। और कोई बात नहीं है। तूने रोटी खा ली ?

—नहीं।

—तो जा। पहले खा ले।

निहाल उठ गया, पर डोड़ी बैठा रहा। रात का अँधेरा साँझ के पीछे ऐसे आ गया, जैसे कोई पर्त उलट गयी हो।

दूर ढोला गाने की आवाज़ आने लगी। डोड़ी उठा और चल पड़ा।

निहाल ने बहू से पूछा—काका ने खा ली ?

—नहीं तो।

निहाल बाहर आया। काका नहीं थे।

—काका!—उसने पुकारा।

राह पर चिरंजी पुजारी गढ़वाले हनुमानजी के पट बन्द करके आ रहा था। उसने पूछा—क्या है, रे?

—पाया लागूँ, पण्डितजी।—निहाल ने कहा—काका अभी तो बैठे थे।...

चिरंजी ने कहा—अरे, वह वहाँ ढोला सुन रहा है—मैं अभी देखकर आया हूँ।

चिरंजी चला गया, निहाल ठिठका खड़ा रहा। बहू ने झाँककर पूछा—क्या हुआ?

—काका ढोला सुनने गये हैं!—निहाल ने अविश्वास से कहा—वे तो नहीं जाते थे।

—जाकर बुला ले आ। रात बढ़ रही है।—बहू ने कहा। और रोते बच्चे को दूध पिलाने लगी।

निहाल जब काका को लेकर लौटा, तो काका की देही तप रही थी।

—हवा लग गयी है और कुछ नहीं।—डोड़ी ने छोटी खटिया पर अपनी निकली टाँगें समेटकर लेटते हुए कहा—रोटी रहने दे, आज जी नहीं चाहता।

निहाल खड़ा रहा। डोड़ी ने कहा—अरे, तो बेटा। मैंने ढोला कितने दिन बाद सुना है। उस दिन भैया की सुहागरात को सुना था, या फिर आज...

निहाल ने सुना और देखा, डोड़ी आँख मींचकर कुछ गुनगुनाने लगा था...

[६]

शाम हो गयी थी। मौनी बाहर बैठा था। गदल ने गरम-गरम रोटी और आम की चटनी ले जाकर खाने को धर दी।

—बहुत अच्छी बनी है।—मौनी ने खाते हुए कहा—बहुत अच्छी है।

गदल बैठ गयी। कहा—तुम एक ब्याह और क्यों नहीं कर लेते अपने उमिर लायक?

मौनी चौंका, कहा—एक की रोटी भी नहीं बनती।

नहीं ।—गदल ने कहा—सोचते होगे सौत बुलाती हूँ, पर मरद का क्या ? मेरी भी तो ढलती उमिर है। जीते जी देख जाऊँगी तो ठीक है । न हो तो हुकूमत करने को तो एक मिल ही जायगी ।

मौनी हँसा । बोला—यों कह । हौंस है तुझे, लड़ने को कोई चाहिए ।

खाना खाकर उठा तो गदल हुक्का भर दे गयी और आप दीवार की ओट में बैठकर खाने लगी ।

इतने में सुनायी दिया—अरे, इस बख्त कहाँ चला ?

—जरूरी काम है, मौनी ।—उत्तर मिला—पेसकार साहब ने बुलवाया है ।

गदल ने पहचाना । उसी के गाँव का तो था, घोट्या मैना का चुंडा गिर्राज ग्वारिया । जरूर पेसकार की गाय को चराने की बात होगी ।

—अरे तो रात को जा रहा है !—मौनी ने कहा—ले चल चिलम तो पीता जा ।

आकर्षण ने रोका : गिर्राज बैठ गया । गदल ने दूसरी रोटी उठायी । कौर मुँह में रखा ।

—तुमने सुना ?—गिर्राज ने कहा और दम खींचा ।

—क्या ?—मौनी ने पूछा ।

—गदल का देवर डोड़ी मर गया ।

गदल का मुँह रुक गया । जल्दी से लोटे के पानी के संग कौर निगला और सुनने लगी । कलेजा मुँह को आने लगा ।

—कैसे मर गया ?—मौनी ने कहा—वह तो भला-चंगा था ।

—ठण्ड लग गयी । रात उघाड़ा रह गया ।

गदल द्वार पर दिखायी दी । कहा—गिर्राज !

—काकी ।—गिर्राज ने कहा—सच । मरते बखत उसके मुँह पर तुम्हारा नाम कढ़ा था, काकी ! बिचारा बड़ा भलामानस था ।

गदल स्तब्ध खड़ी रही ।

गिर्राज चला गया ।

गदल ने कहा—सुनते हो ।

—क्या है री ?

—मैं ज़रा जाऊँगी।

—कहाँ?—वह आतंकित हुआ।

—वहीं।

—क्यों?

—देवर मर गया है न?

—देवर! अब तो वह तेरा देवर नहीं।

गदल हँसी, झनझनाती हुई हँसी—देवर तो मेरा अगले जन्म में भी रहेगा। वही मुझसे रुखाई दिखाता, तो क्या यह पाँव कटे बिना उस देहली से बाहर निकल सकते थे? उसने मुझसे मन फेरा, मैंने उससे। मैंने ऐसा बदला लिया उससे।

कहते-कहते वह कठोर हो गयी।

—तू नहीं जा सकती।—मौनी ने कहा।

—क्यों?—गदल ने कहा—तू रोकेगा? अरे मेरे खास पेट के जाये मुझे रोक न पाये! अब क्या है? जिसे नीचा दिखाना चाहती थी, वही न रहा और तू मुझे रोकनेवाला है कौन? अपने मन से आयी थी, रहूँगी, नहीं रहूँगी, कौन तूने मेरा मोल दिया है! इतना बोल तो भी लिया तू, जो होता मेरे घर में, तो जीभ कढ़वा लेती तेरी।

—अरी चल-चल!

मौनी ने हाथ पकड़कर उसे भीतर धकेल दिया और द्वार पर खाट डालकर लेटकर हुक्का पीने लगा।

गदल भीतर रोने लगी, परन्तु इतनी धीरे कि उसकी सिसकी तक मौनी नहीं सुन सका। आज गदल का मन बहा जा रहा था।

रात का तीसरा पहर बीत रहा था। मौनी की नाक बज रही थी। गदल ने पूरी शक्ति लगाकर छप्पर का कोना उठाया और साँपिन की तरह उसके नीचे से रेंगकर दूसरी ओर कूद गयी।

मौनी रह-रहकर तड़पता था। हिम्मत नहीं होती थी कि जाकर सीधे गाँव में हल्ला करे और लट्ठ के बल गदल को उठा लाये। मन करता, सुसरी की टाँगें तोड़ दे। दुल्लो ने व्यंग्य भी किया कि उसकी लुगाई भागकर नाक कटा गयी है, खून का-सा घूँट पीकर रह गया। गूजरों ने जब सुना, तो

कहा—अरे बुढ़िया के लिए खून-खराबी करायेगा ? और अभी तेरा उसने खरच ही क्या कराया है। दो जून रोटी खा गयी है, तो तुझे भी तो टिक्कड़ खिलाकर ही गयी है ?

मौनी का क्रोध भड़कता है।

घोट्या का गिर्राज सुना गया था।

जिस वक्त गदल पहुँची, पटेल बैठा था। निहाल ने कहा था—खबरदार! भीतर पाँव न धरियो! क्यों लौट आयी है ?

पटेल चौंका था। बोला—अब क्या लेने आयी है, बहू ?

गदल बैठ गयी। कहा—जब छोटी थी, तभी मेरा देवर लट्ठ बाँध मेरे खसम के साथ आया था। इसी के हाथ देखती रह गयी थी मैं तो। सोचा था, मरद है, इसकी छत्तर छाया में जी लूँगी। बताओ, पटेल, वह ही जब मेरे आदमी के मरने के बाद मुझे न रख सका, तो क्या करती ? अरे, मैं न रही, तो इनसे क्या हुआ ? दो दिन में काका उठ गया न ? इनके सहारे मैं रहती तो क्या होता ?

पटेल ने कहा—पर तूने बेटा-बेटी की उमर न देखी, बहू !

—ठीक है,—गदल ने कहा—उमर देखती कि इज्जत, यह कहो। मेरी देवर से रार थी, खतम हो गयी। ये बेटा हैं, मैंने कोई बिरादरी के नेम के बाहर की बात की हो, तो रोककर मुझ पर दावा करो। पंचायत में जवाब दूँगी। लेकिन बेटों ने बिरादरी के मुँह पर थूका, तब तुम सब कहाँ थे ?

—सो कब ?—पटेल ने आश्चर्य से पूछा।

—पटेल न कहें, तो कौन कहेगा ? पच्चीस आदमी खिलाकर टाल दिया मेरे मरद के कारज में।

—पर पगली, यह तो सरकार का कानून था।

—कानून था !—गदल हँसी—सारे जग में कानून चल रहा है, पटेल ? दिन-दहाड़े भैंस खोलकर लायी जाती है। मेरे ही मरद पर कानून था ? यों न कहो, बेटों ने सोचा, दूसरा अब क्या धरा है, क्यों पैसा बिगाड़ते हो ? कायर कहीं के।

निहाल गरजा—कायर ? हम कायर ? तू सिंघनी ?

—हाँ मैं सिंघनी।—गदल तड़पी—बोल तुझमें है हिम्मत ?

—बोल ! —वह भी चिल्लाया ।

—जा, बिरादरी कारज में न्योता दे काका के ! —गदल ने कहा ।

निहाल सकपका गया । बोला—पुलस···

गदल ने सीना ठोंककर कहा—बस ?

—लुगाई बकती है ।—पटेल ने कहा—गोली चलेगी, तो ?

गदल ने कहा—धरम-धुरन्दरों ने तो डुबा ही दी । सारी गुजरात ही डूब गयी, माधो । अब किसी का आसरा नहीं । कायर ही कायर बसे हैं ।

फिर अचानक कहा—मैं करूँ परबन्ध ?

—तू ?—निहाल ने कहा ।

—हाँ, मैं ! —और उसकी आँखों में पानी भर आया । कहा—वह मरते बखत मेरा नाम लेता गया है न, तो उसका परबन्ध मैं ही करूँगी ।

मौनी ने आश्चर्य से सुना था । गिर्राज ने बताया था कि कारज का जोरदार इन्तजाम है । गदल ने दरोगा को रिश्वत दी है । वह उधर आयेगा ही नहीं । गदल बड़ा इन्तज़ाम कर रही है । लोग कहते हैं, उसे अपने मरद का इतना गम नहीं हुआ था, जितना अब लगता है ।

गिर्राज तो चला गया था, पर मौनी में विष भर गया था । उसने उठते हुए कहा—तो गदल ! तेरी भी मन की होने दूँ, सो गोला का मौनी नहीं । दरोगा का मुँह बन्द कर दे, पर उससे भी ऊपर एक दरबार है । मैं कस्बे में बड़े दरोगा से शिकायत करूँगा ।

[७]

कारज हो रहा था । पाँतें बैठतीं, जीमतीं, उठ जातीं और कढ़ाव से पुए उतरते ।

बाहर मरद इन्तजाम कर रहे थे, खिला रहे थे । निहाल और नरायन ने लड़ाई में महँगा नाज बेचकर जो घड़ों में नोटों को चाँदी बनाकर डाला था, वह निकली और बौहरे का कर्ज चढ़ा । पर डाँग में लोगों ने कहा—गदल का ही बूता था । बेटे तो हार बैठे थे । कानून क्या बिरादरी से ऊपर है !

गदल थक गयी थी । औरतों में बैठी थी । अचानक द्वार में से सिपाही-सा दीखा । बाहर आ गयी । निहाल सिर झुकाये खड़ा था ।

—क्या बात है, दीवानजी ?—गदल ने बढ़कर पूछा ।

स्त्री का बढ़कर पूछना देख दीवान सकपका गया ।

निहाल ने कहा—कहते हैं कारज रोक दो ।

—सो कैसे ? गदल चौंकी ।

—दरोगाजी ने कहा है ।—दीवानजी ने नम्र उत्तर दिया ।

—क्यों ? उनसे पूछकर ही तो किया जा रहा है ।—उसका स्पष्ट संकेत था कि रिश्वत दी जा चुकी है ।

दीवान ने कहा—जानता हूँ, दरोगाजी तो मेल-मुलाकात मानते हैं, पर किसी ने बड़े दरोगाजी के पास शिकायत पहुँचायी है, दरोगाजी को आना ही पड़ेगा । इसी से उन्होंने कहला भेजा है कि भीड़ छाँट दो । वर्ना कानूनी कार्यवाही करनी ही पड़ेगी ।

क्षण-भर गदल ने सोचा । कौन होगा वह ? समझ नहीं सकी । बोली—दरोगाजी ने पहले नहीं सोचा था यह सब, अब बिरादरी को उठा दें ? दीवानजी, तुम भी बैठकर पत्तल परोसवा लो । होगी तो देखी जायेगी । हम खबर भेज देंगे, दरोगा आते ही क्यों हैं ? वे तो राजा हैं ।

दीवानजी ने कहा—सरकारी नौकरी है । चली न जायगी ? आना ही होगा उन्हें ।

—तो आने दो !—गदल ने चुभते स्वर से कहा—आदमी का वजन एक बार का होता है । हम बिरादरी को नहीं उठा सकते ।

नरायन घबराया । दीवानजी ने कहा—सब गिरफ्तार कर लिये जायेंगे । समझी । राज से टक्कर लेने की कोशिश न करो ।

—अरे तो राज क्या बिरादरी से ऊपर है ?—गदल ने तमककर कहा—राज के पीछे तो आज तक पिसे हैं, पर राज के लिए धरम नहीं छोड़ दें, सुन लो । तुम धरम छीन लो, तो हमें जीना हराम है !

गदल पाँव धमाके से धरती चली गयी ।

तीन पाँतें और उठ गयीं, अन्तिम पाँत थी ।

निहाल ने अँधेरे में देखकर कहा—नरायन, जल्दी कर । एक पाँत बची है न ?

गदल ने छप्पर की छाया में से कहा—निहाल !

निहाल गया ।

—डरता है ?—गदल ने पूछा ।

सूखे होंठों पर जीभ फेरकर उसने कहा—नहीं ।

—मेरी कोख की लाज रखनी होगी तुझे ।—गदल ने कहा—तेरे काका ने तुझको बेटा समझकर अपना दूसरा ब्याह नामंजूर कर दिया था । याद रखना, उसके और कोई नहीं ।

निहाल ने सिर झुका लिया ।

भागा हुआ एक लड़का आया ।

—दादी !—वह चिल्लाया ।

—क्या है रे ?—गदल ने सशंक होकर देखा ।

—पुलिस हथियारबन्द होकर आ रही है ।

निहाल ने गदल की ओर रहस्यभरी दृष्टि से देखा ।

गदल ने कहा—पाँत उठने में ज्यादा देर नहीं है ।

—लेकिन वे कब मानेंगे ?

—उन्हें रोकना होगा ।

—उनके पास बन्दूकें हैं ।

—बन्दूकें हमारे पास भी हैं, निहाल ।—गदल ने कहा—डाँग में बन्दूकों की क्या कमी ।

—पर हम फिर खायेंगे ?

—जो भगवान देगा ।

बाहर पुलिस की गाड़ी का भोंपू बजा । निहाल आगे बढ़ा । दरोगा ने उतरकर कहा—यहाँ दावत हो रही है ?

निहाल भौंचक रह गया । जिस आदमी ने रिश्वत ली थी, अब वह पहचान भी नहीं रहा था ।

—हाँ । हो रही है ।—उसने क्रुद्ध स्वर में कहा ।

—पच्चीस आदमी से ऊपर हैं ?

—गिनकर हम नहीं खिलाते, दरोगाजी ।

—मगर तुम कानून तो नहीं तोड़ सकते ?

—कानून का राज कल का है, मगर बिरादरी का कानून सदा का है, हमें राज नहीं लेना है, बिरादरी से काम है ।

—तो मैं गिरफ्तारी करूँगा।

गदल ने पुकारा—निहाल !

निहाल भीतर गया।

गदल ने कहा—पंगत खतम होने तक इन्हें रोकना ही होगा।

—फिर ?

—फिर सबको पीछे से निकाल देंगे। अगर कोई पकड़ा गया, बिरादरी क्या कहेगी ?

—पर ये वैसे न रुकेंगे। गोली चलायेंगे।

—तू न डर। छत पर नरायन चार आदमियों के साथ बन्दूकें लिये बैठा है।

निहाल काँप उठा। उसने घबराये हुए स्वर से समझाने की कोशिश की—हमारी टोपीदार हैं, उनकी रफल हैं।

—कुछ भी हो, पंगत उतर जायेगी।

—और फिर ?

—तुम सब भागना।

—हठात् लालटेन बुझ गयी।

धायँ-धायँ की आवाज आयी। गोलियाँ अन्धकार में चलने लगीं।

गदल ने चिल्लाकर कहा—सौगन्ध है, खाकर उठना।

पर सबको ज़ल्दी की फिकर थी।

बाहर धायँ-धायँ हो रही थी। कोई चिल्लाकर गिरा।

पाँत पीछे से निकलने लगी।

जब सब चले गये, गदल ऊपर चढ़ी। निहाल से कहा—बेटा !

उसके स्वर की अखण्ड ममता सुनकर निहाल के रोंगटे उस हलचल में भी खड़े हो गये। इससे पहले कि वह उत्तर दे, गदल ने कहा—तुझे मेरी कोख की सौगन्ध है। नरायन को और बहू-बच्चों को लेकर निकल जा पीछे से।

—और तू ?

—मेरी फिकर छोड़ ! मैं देख रही हूँ, तेरा काका मुझे बुला रहा है।

निहाल ने बहस नहीं की। गदल ने एक बन्दूकवाले से भरी बन्दूक लेकर कहा—चलो, जाओ सब, निकल जाओ।

सन्तान के मोह से जकड़े हुए युवकों को आपत्ति ने अन्धकार में विलीन कर दिया।

गदल ने घोड़ा दबाया। कोई चिल्लाकर गिरा। वह हँसी। विकराल हास्य उस अन्धकार में गूँज उठा।

दरोगा ने सुना, तो चौंका। औरत ! मरद कहाँ गये ! उसके कुछ सिपाहियों ने पीछे से घिराव डाला और ऊपर चढ़ गये। गोली चलायी। गदल के पेट में लगी।

[६]

युद्ध समाप्त हो गया था। गदल रक्त से भीगी हुई पड़ी थी। पुलिस के जवान इकट्ठे हो गये।

दरोगा ने पूछा—यहाँ तो कोई नहीं ?

—हुजूर !—एक सिपाही ने कहा—यह औरत है।

दरोगा आगे बढ़ आया। उसने देखा और पूछा—तू कौन है ?

गदल मुस्करायी और धीरे से कहा—कारज हो गया, दरोगा जी। आत्मा को शान्ति मिल गयी।

दरोगा ने झल्लाकर कहा—पर तू है कौन ?

गदल ने और भी क्षीण स्वर से कहा—जो एक दिन अकेला न रह सका, उसी की···

और सिर लुढ़क गया। उसके होंठों पर मुस्कराहट ऐसी ही दिखायी दे रही थी, जैसे अब पुराने अन्धकार में जलाकर लायी हुई···पहले की बुझी लालटेन···।

लाल पान की बेगम

•

फणीश्वरनाथ 'रेणु'

"क्यों बिरजू की माँ, नाच देखने नहीं जायगी क्या ?"

बिरजू की माँ शकरकन्द उबालकर बैठी मन-ही-मन कुढ़ रही थी। अपने आँगन में सात साल का लड़का बिरजू शकरकन्द के बदले तमाचे खाकर आँगन में लोट-लोटकर सारी देह में मिट्टी मल रहा था। चम्पिया के सिर भी चुड़ैल मँडरा रही है···आधा आँगन धूप रहते जो गयी है सहुआइन की दूकान पर छोवा-गुड़लाने, सो अभी तक नहीं लौटी; दीया-बाती की बेला हो गयी। आये आज लौटके जरा ! बागड़ बकरे की देह में कुकुरमाछी लगी थी, इसलिए बेचारा बागड़ रह-रहकर कूद-फाँद कर रहा था ! बिरजू की माँ बागड़ पर मन का गुस्सा उतारने का बहाना ढूँढ़कर निकाल चुकी थी। पिछवाड़े की मिर्च की फुली गाछ ! बागड़ के सिवा और किसने कलेवा किया होगा ! बागड़ को मारने के लिए वह मिट्टी का एक छोटा ढेला उठा चुकी थी कि पड़ोसिन मखनी फुआ की पुकार सुनायी पड़ी, "क्यों बिरजू की माँ, नाच देखने नहीं जायेगी क्या ?"

"बिरजू की माँ के आगे नाथ और पीछे पगहिया न हो, तब न फुआ !"

गरम गुस्से में बुझी नुकीली बात फुआ की देह में धँस गयी और बिरजू की माँ ने हाथ के ढेले को पास ही फेंक दिया—बेचारे बागड़ को कुकुरमाछी परीशान कर रही है। आ-हा, आय···हर्र-र-र-र ! आय-आय ?

बिरजू ने लेटे-ही-लेटे बागड़ को एक डण्डा लगा दिया। बिरजू की माँ की इच्छा हुई कि जाकर उसी डण्डे से बिरजू का भूत भगा दे, किन्तु नीम के

पास खड़ी पनभरनियों की खिलखिलाहट सुनकर रुक गयी। बोली, "ठहर, तेरे बप्पा ने बड़ा हथछुट्टा बना दिया है तुझे! बड़ा हाथ चलता है लोगों पर। ठहर!"

मखनी फुग्रा नीम के पास झुकी कमर से घड़ा उतारकर पानी भरकर लौटती पनभरनियों से बिरजू की माँ की बहकी हुई बात का इन्साफ करा रही थी, "जरा देखो तो इस बिरजू की माँ को। चार मन पाट (जूट) का पैसा क्या हुग्रा है, धरती पर पाँव ही नहीं पड़ते। निसाफ करो! खुद ग्रपने मुँह से ग्राठ दिन पहले से ही गाँव की ग्रली-गली में बोलती फिरी है, हाँ, इस बार बिरजू के बप्पा ने कहा है, बैलगाड़ी पर बैठाकर बलरामपुर का नाच दिखा लाऊँगा। बैल ग्रब ग्रपने घर है तो हजार गाड़ियाँ मँगनी मिल जायेंगी। सो मैंने ग्रभी टोक दिया, नाच देखनेवाली सब तो ग्रौन-पौन कर तैयार हो रही है, रसोई-पानी कर रही है। मेरे मुँह में ग्राग लगे, क्यों मैं टोकने गयी! सुनती हो, क्या जवाब दिया बिरजू की माँ ने?"

मखनी फुग्रा ने ग्रपनी जीभ पोपले मुँह के ग्रोठों को एक ग्रोर मोड़कर ऐंठती हुई निकाली, "ग्रर-र्रे-हाँ-हाँ! बि-र-र-रज्जू की मैं-या के ग्रागे नाथ ग्रौर्-र्र पीछे पगहिया ना हो, तब्ब ना-ग्रा-ग्रा!"

जंगी की पतोहू बिरजू की माँ से नहीं डरती। वह जरा गला खोलकर ही कहती है, "फुग्रा ग्रा! सरबे सित्तलमिटी (सर्वे सेट्लमेंट) के हाकिम के बासा पर...यदि तू भी भेंटी चढ़ाती तो तुम्हारे नाम से भी दु-तीन बीघा धनहर जमीन का पर्चा कट जाता। फिर तुम्हारे घर भी ग्राज दस मन सोनाबंग पाट होता, जोड़ा बैल खरीदती! फिर ग्रागे नाथ ग्रौर पीछे सैकड़ों पगहिया झूलती!"

जंगी की पतोहू मुँहजोर है। रेलवे-स्टेशन के पास की लड़की है। तीन ही महीने हुए गौने की नयी बहू होकर ग्रायी है ग्रौर सारे कुर्मा टोली की सभी झगड़ालू सासों से एकाध मोरचा ले चुकी है। उसका ससुर जंगी दागी चोर है, सी-किलासी है। उसका खसम रंगी कुर्मा टोली का नामी लठैत। इसीलिए हमेशा सींग खुजाती फिरती है जंगी की पतोहू!

बिरजू की माँ ग्राँगन में जंगी की पतोहू की गला-खोल बोली गुलेल की गोलियों की तरह दनदनाती हुई ग्रायी। बिरजू की माँ ने एक तीखा जवाब

खोजकर निकाला, लेकिन मन मसोसकर रह गयी।···गोबर की ढेंरी में कौन ढेला फेंके !

जीभ के झाल को गले में उतारकर बिरजू की माँ ने अपनी बेटी चम्पिया को आवाज दी, "अरी चम्पिया-या-या, आज लौटे तो तेरी मूड़ी मरोड़कर चूल्हे में झोंकती हूँ ! दिन-दिन बेचाल होती जाती है ! गाँव में तो अब ठेठर-बैसकोप का गीत गानेवाली पतुरिया-पतोहू सब आने लगी है। कहीं बैठके 'बाजे न मुरलिया' सीख रही होगी ह-र-जा ई-ई ! अरी चम्पि-या-या-या !"

जंगी की पतोहू ने बिरजू की माँ की बोली का स्वाद लेकर कमर पर घड़े को सँभाला और मटककर बोली, "चल दिदिया, चल ! इस मुहल्ले में लाल पान की बेगम बसती है ! नहीं जानती, दोपहर-दिन और चौपहर-रात बिजली की बत्ती भक्-भक् कर जलती है !"

भक्-भक् बिजली-बत्ती की बात सुनकर न जाने क्यों सभी खिलखिलाकर हँस पड़ीं। फुआ की टूटी हुई दन्त-पंक्तियों के बीच से एक मीठी गाली निकली, "शैतान की नानी।"

बिरजू की माँ की आँखों पर मानो किसी ने तेज टार्च की रोशनी डालकर चौंधिया दिया···भक्-भक् बिजली-बत्ती ! तीन साल पहले सर्वे कैम्प के बाद गाँव की जलन-डाही औरतों ने एक कहानी गढ़के फैलायी थी, चम्पिया की माँ के आँगन में रात-भरबिजली- बत्ती भुकभुकाती थी ! चम्पिया की माँ के आँगन में, नालवाले जूते की छाप, घोड़े की टाप की तरह !···जलो, जलो ! और जलो ! चम्पिया की माँ के आँगन में चाँदी-जैसी पाट सूखते देखकर जलनेवाली सब औरतें खलिहान पर सोनाली धान के बोझों को देखकर बैंगन का भुर्त्ता हो जायेंगी।

मिट्टी के बरतन से टपकते हुए छोवा-गुड़ को उँगलियों से चाटती हुई चम्पिया आयी और माँ से तमाचे खाकर चीख पड़ी, "मुझे क्यों मारती है एँ-एँ-एँ ? सहुआइन जल्दी से सौदा नहीं देती है एँ-एँ-एँ !"

"सहुआइन जल्दी सौदा नहीं देती की नानी ! एक सहुआइन की ही दूकान पर मोती झरते हैं, जो जड़ गाड़कर बैठी हुई थी। बोल, गले पर लात देकर कल्ला तोड़ दूँगी हरजाई, फिर कभी 'बाजे न मुरलिया' गाते सुना ! चाल सीखने जाती है, टीशन की छोकरियों से !"

बिरजू की माँ ने चुप होकर अपनी आवाज अन्दाजी कि उसकी बात जंगी के झोपड़े तक साफ-साफ पहुँच गयी होगी।

बिरजू बीती हुई बातों को भूलकर उठ खड़ा हुआ था और धूल झाड़ते हुए बरतन से टपकते गुड़ को ललचाई निगाह से देखने लगा था। दीदी के साथ वह भी दूकान जाता तो दीदी उसे भी गुड़ चटाती, जरूर! वह शकरकन्द के लोभ में रहा और माँगने पर माँ ने शकरकन्द के बदले···

"ए मैया, एक अँगुली गुड़ दे-दे!" बिरजू ने तलहथी फैलायी, "दे ना मैया, एक रत्ती-भर!"

"एक रत्ती क्यों, उठाके बरतन को फेंक आती हूँ पिछवाड़े में; जाके चाटना! नहीं बनेगी मीठी रोटी! ···मीठी रोटी खाने का मुँह होता है।" बिरजू की माँ ने उबले शकरकन्द का सूप रोती हुई चम्पिया के सामने रखते हुए कहा, "बैठके छिलके उतार, नहीं तो अभी···।"

दस साल की चम्पिया जानती है, शकरकन्द छीलते समय कम-से-कम बारह बार माँ उसे बाल पकड़कर झकझोरेगी, छोटी-छोटी खोट निकालकर गालियाँ देगी।···'पाँव फैलाके क्यों बैठी है उस तरह, बेलज्जी!' चम्पिया माँ के गुस्से को जानती है।

बिरजू ने इस मौके पर थोड़ी-सी खुशामद करके देखा, "मैया, मैं भी बैठकर शकरकन्द छीलूँ?"

"नहीं!" माँ ने झिड़की दी, "एक शकरकन्द छीलेगा और तीन पेट में। जाके सिद्धू की बहू से कहो, एक घण्टे के लिए कड़ाही माँगकर ले गयी तो फिर लौटाने का नाम नहीं।"

मुँह लटकाकर आँगन से निकलते-निकलते बिरजू ने शकरकन्द और गुड़ पर निगाह दौड़ायी। चम्पिया ने अपने झबरे केश की ओट से माँ की ओर देखा और नजर बचाकर चुपके से बिरजू की ओर एक शकरकन्द फेंक दिया···बिरजू भागा।

"सूरज भगवान डूब गये। दीया-बत्ती की बेला हो गयी। अभी तक गाड़ी···"

चम्पिया बीच में ही बोल उठी, "कोयरी टोले में किसी ने गाड़ी नहीं दी मैया! बप्पा बोले—माँ से कहना, सब ठीक-ठाक करके तैयार रहे! मलदहिया

टोली के मियाँजान की गाड़ी लाने जा रहा हूँ।"

सुनते ही बिरजू की माँ का चेहरा उतर गया। लगा, छाते की कमानी उतर गयी घोड़े से अचानक। कोयरी टोले में किसी ने गाड़ी मँगनी नहीं दी! तब मिल चुकी गाड़ी! जब अपने गाँव के लोगों की आँख में पानी नहीं तो मलदहिया टोली के मियाँजान की गाड़ी का क्या भरोसा! न तीन में, न तेरह में! क्या होगा शकरकन्द छीलकर! रख दे उठाके!...यह मर्द नाच दिखायेगा! बैलगाड़ी पर चढ़ाकर नाच दिखाने ले जायगा! चढ़ चुकी बैलगाड़ी पर, देख चुकी जी-भर नाच। पैदल जानेवाली सब पहुँचकर पुरानी हो चुकी होंगी।

बिरजू छोटी कड़ाही सिर पर औंधाकर वापस आया, "देख दिदिया, मलेटरी टोपी! इस पर दस लाठी मारने से भी कुछ नहीं होगा।"

चम्पिया चुपचाप बैठी रही, कुछ बोली नहीं, जरा-सी मुस्करायी भी नहीं। बिरजू ने समझ लिया, मैया का गुस्सा अभी उतरा नहीं है पूरे तौर से।

मड़ैया के अन्दर से बागड़ को बाहर भगाती हुई बिरजू की माँ बड़बड़ायी, "कल ही पँचकौड़ी कसाई के हवाले करती हूँ राकस तुझे! हर चीज में मुँह लगायेगा। चम्पिया, बाँध दे बगड़ा को। खोल दे गले की घण्टी। टुनुर-टुनुर! मुझे जरा नहीं सुहाता है!"

टुनुर-टुनुर सुनते ही बिरजू को सड़क से जाती हुई बैलगाड़ियों की याद हो आयी, "अभी बबुआ टोले की गाड़ियाँ नाच देखने जा रही थीं—झुनुर-झुनुर बैलों की झुनकी, तुमने सु...।"

"बेसी बकबक मत करो!" बागड़ के गले से झुनकी खोलती बोली चम्पिया।

"चम्पिया, डाल दे चूल्हे में पानी! बप्पा आयें तो कहना कि अपने उड़न-जहाज पर चढ़कर नाच देख आयें! मुझे नाच देखने का सौख नहीं!...मुझे जगाओ मत कोई! मेरा माथा दुख रहा है।"

मड़ैया के ओसारे पर बिरजू ने फिसफिसाके पूछा, "क्यों दिदिया, नाच में उड़नजहाज भी उड़ेगा?"

चटाई पर कथरी ओढ़कर बैठती हुई चम्पिया ने बिरजू को चुपचाप अपने पास बैठने का इशारा किया, मुफ्त में मार खायेगा बेचारा।

बिरजू ने बहन की कथरी में हिस्सा बाँटते हुए चुक्की-मुक्की लगायी।

जाड़े के समय इस तरह घुटने पर ठुड्डी रखकर चुक्की-मुक्की लगाना सीख चुका है वह। उसने चम्पिया के कान के पास मुँह ले जाकर कहा, "हम लोग नाच देखने नहीं जायेंगे ?···गाँव में एक पंछी भी नहीं है। सब चले गये।"

चम्पिया को अब तिल-भर भी भरोसा नहीं। संझा तारा डूब रहा है। बप्पा अभी तक गाड़ी लेकर नहीं लौटे। एक महीना पहले से ही मैया कहती थी, 'बलरामपुर के नाच के दिन मीठी रोटी बनेगी; चम्पिया छींट की साड़ी पहनेगी, बिरजू पैंट पहनेगा ! बैलगाड़ी पर चढ़कर···'

चम्पिया की भींगी पलकों पर एक बूँद आँसू आ गया।

बिरजू का भी दिल भर आया। उसने मन-ही-मन इमली पर रहनेवाले जिन बाबा को एक बैंगन कबूला, गाछ का सबसे पहला बैंगन, उसने खुद जिस पौधे को रोपा है ! '···जल्दी से गाड़ी लेकर बप्पा को भेज दो, जिन बाबा !'

मड़ैया के अन्दर बिरजू की माँ चटाई पर पड़ी करवटें ले रही थी। उँहुँ, पहले से किसी बात का मनसूबा नहीं बाँधना चाहिए किसी को ! भगवान ने मनसूबा तोड़ दिया। उसको सबसे पहले भगवान से पूछना है, यह किस चूक का फल दे रहे हो भोला बाबा ! अपने जानते उसने किसी देवता-पित्तर की मान-मनौती बाकी नहीं रखी ! सर्वे के समय जमीन के लिए जितनी मनौतियाँ की थीं···ठीक ही तो ! महाबीरजी का रोट तो बाकी ही है। हाय रे दैव ! ··· भूल-चूक माफ करो महाबीर बाबा ! मनौती दूनी करके चढ़ायेगी बिरजू की माँ ! ···

बिरजू की माँ के मन में रह-रहकर जंगी की पतोहू की बातें चुभती हैं, भक्-भक् बिजली-बत्ती ! ···चोरी-चमारी करनेवाले की बेटी-पतोहू जलेगी नहीं ! पाँच बीघा जमीन क्या हासिल की है बिरजू के बप्पा ने, गाँव की भाईखौकियों की आँखों में किरकिरी पड़ गयी है। खेत में पाट लगा देखकर गाँव के लोगों की छाती फटने लगी, धरती फोड़कर पाट लगा है; वैशाखी बादलों की तरह उमड़ते आ रहे हैं पाट के पौधे ! तो अलान तो फलान ! इतनी आँखों की धार भला फसल सहे ! जहाँ पन्द्रह मन पाट होना चाहिए, सिर्फ दस मन पाट काँटा पर तौल का ओजन हुआ रब्बी भगत के यहाँ।···

इसमें जलने की क्या बात है भला ! ···बिरजू के बप्पा ने तो पहले ही कुर्मा टोली के एक-एक आदमी को समझाके कहा था, 'जिन्दगी-भर मजदूरी

करते रह जाओगे। सर्वे का समय आ रहा है, लाठी कड़ी करो तो दो-चार बीघे जमीन हासिल कर सकते हो।' सो गाँव की किसी पुतखौकी का भतार सर्वे के समय बाबू साहेब के खिलाफ खाँसा भी नहीं।···बिरजू के बप्पा को कम सहना पड़ा है ! बाबू साहेब गुस्से से सरकस नाच के बाघ की तरह हुमड़ते रह गये। उनका बड़ा बेटा घर में आग लगाने की धमकी देकर गया।···आखिर बाबू साहेब ने अपने सबसे छोटे लड़के को भेजा। बिरजू की माँ को 'मौसी' कहके पुकारा—'यह जमीन बाबूजी ने मेरे नाम से खरीदी थी। मेरी पढ़ाई-लिखाई उसी जमीन की उपज से चलती है।'···और भी कितनी बातें। खूब मोहना जानता है। उत्ता जरा-सा लड़का। जमींदार का बेटा है कि···

"चम्पिया, बिरजू सो गया क्या ? यहाँ आ जा बिरजू, अन्दर। तू भी आ जा, चम्पिया ! ···भला आदमी आवे तो एक बार आज !"

बिरजू के साथ चम्पिया अन्दर चली गयी।

"ढिबरी बुझा दे।···बप्पा बुलायें तो जवाब मत देना। खप्पची गिरा दे।"

भला आदमी रे, भला आदमी ! मुँह देखो जरा इस मर्द का।···बिरजू की माँ दिन-रात मंझा न देती रहती तो ले चुके थे जमीन ! रोज आकर माथा पकड़के बैठ जायँ, मुझे जमीन नहीं लेनी है बिरजू की माँ, मजूरी ही अच्छी।···जवाब देती थी बिरजू की माँ खूब सोच-समझके। 'छोड़ दो, जब तुम्हारा कलेजा ही थिर नहीं होता है तो क्या होगा ! जोरू-जमीन जोर के, नहीं तो किसी और के !'···

बिरजू के बाप पर बहुत तेजी से गुस्सा चढ़ता है। चढ़ता ही जाता है।···बिरजू की माँ का भाग ही खराब है, जो ऐसा गोबर-गनेश घरवाला उसे मिला। कौन-सा सौख-मौज दिया है उसके मर्द ने। कोल्हू के बैल की तरह खटकर सारी उम्र काट दी इसके यहाँ, कभी एक पैसे की जलेबी भी लाकर दी है, उसके खसम ने ?···पाट का दाम भगत के यहाँ से लेकर बाहर-ही-बाहर बैल-हट्टा चले गये। बिरजू की माँ को एक बार नमरी लोट देखने भी नहीं दिया आँख से। बैल खरीद लाये। उसी दिन से गाँव में ढिंढोरा पीटने लगे, 'बिरजू की माँ इस बार बैलगाड़ी पर चढ़कर जायगी नाच देखने !'···दूसरे की गाड़ी के भरोसे नाच दिखायेगा !···

अन्त में उसे अपने-आप पर क्रोध हो आया। वह खुद भी कुछ कम नहीं !

उसकी जीभ में आग लगे ! बैलगाड़ी पर चढ़कर नाच देखने की लालसा किस कुसमय में उसके मुँह से निकली थी, भगवान जानें। फिर आज सुबह से दोपहर तक, किसी-न-किसी बहाने उसने अट्ठारह बार बैलगाड़ी पर नाच देखने की चर्चा छेड़ी है। लो खूब देखो नाच ! वाह रे नाच ! कथरी के नीचे दुशाले का सपना !···कल भोरे पानी भरने के लिए जब जायेगी, पतली जीभवाली पतुरिया सब हँसती आयेंगी, हँसती जायेंगी।···सभी जलते हैं उससे, हाँ, भगवान दाढ़ी-जार भी ! दो बच्चों की माँ होकर भी वह जस-की-तस है। उसका घरवाला उसकी बात में रहता है। वह बालों में गरी का तेल डालती है। उसकी अपनी जमीन है। है किसी के पास एक धूर जमीन भी अपनी इस गाँव में ! जलेंगे नहीं, तीन बीघे में धान लगा हुआ है, अगहनी ! लोगों की बिखदीठ से बचे, तब तो !

बाहर बैलों की घण्टियाँ सुनायी पड़ीं। तीनों सतर्क हो गये। उत्कर्ण होकर सुनते रहे।

"अपने ही बैलों की घण्टी है, क्यों री चम्पिया ?"

चम्पिया और बिरजू ने प्रायः एक ही साथ कहा, "हूँ-ऊँ-ऊँ !"

"चुप !" बिरजू की माँ ने फिसफिसाकर कहा, "शायद गाड़ी भी है ! घड़घड़ाती है न ?"

"हूँ-ऊँ-ऊँ !" दोनों ने फिर हुँकारी भरी !

"चुप ! गाड़ी नहीं है ! तू चुपके से टट्टी में छेद करके देख तो आ चम्पी ! भागके आ, चुपके-चुपके।"

चम्पिया बिल्ली की तरह हौले-हौले पाँव से टट्टी के छेद से झाँक आयी, "हाँ मैया, गाड़ी है।"

बिरजू हड़बड़ाकर उठ बैठा। उसकी माँ ने उसे हाथ पकड़कर सुला दिया, "बोले मत !"

चम्पिया भी गुदड़ी के नीचे घुस गयी।

बाहर बैलगाड़ी खोलने की आवाज हुई। बिरजू के बाप ने बैलों को जोर से डाँटा, "हाँ-हाँ ! आ गये घर ! घर आने के लिए छाती फटी जाती थी !"

बिरजू की माँ ताड़ गयी, जरूर मलदहिया टोली में गाँजे की चिलम चढ़ रही थी; आवाज तो बड़ी खनखनाती हुई निकल रही है।

"चम्पिया है !" बाहर से ही पुकारकर कहा उसके बाप ने, "बैलों को घास दे दे, चम्पिया है !"

अन्दर से कोई जवाब नहीं आया। चम्पिया के बाप ने आँगन में आकर देखा तो न रोशनी, न चिराग, न चूल्हे में आग···बात क्या है ! नाच देखने, उतावली होकर, पैदल ही चली गयी क्या···।

बिरजू के गले में खसखसाहट हुई और उसने रोकने की पूरी कोशिश भी की, लेकिन खाँसी जब शुरू हुई तो पूरे पाँच मिनट तक वह खाँसता रहा।

"बिरजू ! बेटा बिरजमोहन !" बिरजू के बाप ने पुचकारकर बुलाया, "मैया गुस्से के मारे सो गयी क्या ?···अरे, अभी तो लोग जा ही रहे हैं।"

बिरजू की माँ के मन में आया कि कसकर जवाब दे, 'नहीं देखना नाच ! लौटा दो गाड़ी !'

"चम्पिया है ! उठती क्यों नहीं ? ले धान की पँचसीस रख दे।" धान की बालियों का छोटा झब्बा झोपड़े के ओसारे पर रखकर उसने कहा, "दीया बालो !"

बिरजू की माँ उठकर ओसारे पर आयी, "डेढ़ पहर रात को गाड़ी लाने की क्या जरूरत थी ? नाच तो खत्म हो रहा होगा।"

ढिबरी की रोशनी में धान की बालियों का रंग देखते ही बिरजू की माँ के मन का सब मैल दूर हो गया। धानी रंग उसकी आँखों से उतरकर रोम-रोम में घुस गया।

"नाच अभी शुरू भी नहीं हुआ होगा। अभी-अभी बलरामपुर के बाबू की सम्पनी गाड़ी मोहनपुर होटिल बँगला से हाकिम साहब को लाने गयी है। इस साल आखिरी नाच है।···पँचसीस टट्टी में खोंस दे, अपने खेत का है।"

"अपने खेत का ?" हुलसती हुई बिरजू की माँ ने पूछा, "पक गये धान ?"

"नहीं, दस दिन में अगहन चढ़ते-चढ़ते लाल होकर झुक जायेंगी, सारे खेत की बालियाँ। मलदहिया टोली जा रहा था, अपने खेत में धान देखकर आँखें जुड़ा गयीं। सच कहता हूँ, पँचसीस तोड़ते समय ऊँगलियाँ काँप रही थीं मेरी !"

बिरजू ने धान की एक बाली से एक धान लेकर मुँह में डाल लिया और उसकी माँ ने एक हल्की डाँट दी, "कैसा लुक्कड़ है तू रे !···इन दुश्मनों के

मारे कोई नेम-धरम जो बचे।"

"क्या हुआ, डाँटती क्यों है ?"

"नवान्न के पहले ही नया धान जुठा दिया, देखते नहीं ?"

"अरे इन लोगों का सबकुछ माफ है। चिरई-चुरमुन हैं ये लोग ! बस, हम दोनों के मुँह में नवान्न के पहले नया अन्न न पड़े।"

इसके बाद चम्पिया ने भी धान की बाली से दो धान लेकर, दाँतों-तले दबाया, "ओ मैया ! इतना मीठा चावल !"

"और गमकता भी है न दिदिया ?" बिरजू ने फिर मुँह में धान लिया।

"रोटी-पोटी तैयार कर चुकी क्या ?" बिरजू के बाप ने मुस्कराकर पूछा।

"नहीं !" मान-भरे सुर में बोली बिरजू की माँ, "खाने का ठीक-ठिकाना नहीं···और रोटी बनाती है !"

"वाह ! खूब हो तुम लोग ! जिसके पास बैल है, उसे गाड़ी मँगनी नहीं मिलेगी भला ? गाड़ीवालों को भी बैल की कभी जरूरत होगी।···पूछूँगा तब कोयरीटोला वालों से !···ले, जल्दी से रोटी बना ले !"

"देर नहीं होगी ?"

"अरे, टोकरी-भर रोटी तो तू पलक मारते बना लेती है; पाँच रोटियाँ बनने में कितनी देर लगेगी !"

अब बिरजू की माँ के ओठों पर मुस्कराहट खुलकर खेलने लगी। उसने नजर बचाकर देखा, बिरजू का बप्पा उसकी ओर एकटक निहार रहा है।···चम्पिया और बिरजू न होते तो मन की बात हँसकर खोलते देर न लगती। चम्पिया और बिरजू ने एक-दूसरे को देखा और खुशी से उनके चेहरे जगमगा उठे।··· मैया बेकार गुस्सा हो रही थी न !

"चम्पी ! जरा बैलसार में खड़ी होकर मखनी फुआ को आवाज दे तो।"

"ऐ फु-आ-आ ! सुनती हो फुआ-आ ! मैया बुला रही है।"

फुआ ने कोई जवाब सीधे नहीं दिया, किन्तु उसकी बड़बड़ाहट स्पष्ट सुनायी पड़ी, "हाँ, अब फुआ को क्यों गुहारती है ? सारे टोले में बस एक फुआ ही तो बिना नाथ-पगहियावाली है।"

"अरी फुआ !" बिरजू की माँ ने हँसकर जवाब दिया, "उस समय बुरा मान गयी थीं क्या ? नाथ-पगहियावाले को आकर देखो, दोपहर रात में गाड़ी

को लेकर आया है ! आ जाओ फुआ, मैं मीठी रोटी पकाना नहीं जानती ।"

फुआ खाँसती-खाँसती आयी, "इसी से घड़ी-पहर दिन रहते ही पूछ रही थी कि नाच देखने जायेगी क्या ? कहती, तो मैं पहले से ही अपनी अँगीठी यहाँ सुलगा जाती ।"

बिरजू की माँ ने फुआ को अँगीठी दिखला दी और कहा, "घर में अनाज-दाना वगैरह तो कुछ है नहीं । एक बागड़ है और कुछ बरतन-बासन । सो रात-भर के लिए यहाँ तम्बाकू रख जाती हूँ । अपना हुक्का ले आयी हो न फुआ ?"

फुआ को तम्बाकू मिल जाय तो रात-भर क्या, पाँच रात बैठकर जाग सकती है । फुआ ने अँधेरे में टटोलकर तम्बाकू का अन्दाज किया ।···ओ हो ! हाथ खोलकर तम्बाकू रखा है बिरजू की माँ ने ! और एक वह है सहुआइन ! राम कहो ! उस रात को अफीम की गोली की तरह एक मटर-भर तम्बाकू रख-कर चली गयी गुलाब-बाग मेले और कह गयी कि डिब्बा-भर तम्बाकू है ।

बिरजू की माँ चूल्हा सुलगाने लगी । चम्पिया ने शकरकन्द को मसलकर गोले बनाये और बिरजू सिर पर कड़ाही औंधाकर अपने बाप को दिखलाने लगा, "मलेटरी टोपी ! इस पर दस लाठी मारने से भी कुछ नहीं होगा ।"

सभी ठठाकर हँस पड़े । बिरजू की माँ हँसकर बोली, "ताखे पर तीन-चार मोटे शकरकन्द हैं, दे दे बिरजू को चम्पिया, बेचारा शाम से ही···"

"बेचारा मत कहो मैया, खूब सचारा है !" अब चम्पिया चहकने लगी, "तुम क्या जानो, कथरी के नीचे मुँह क्यों चल रहा था बाबू साहब का !"

"ही-ही-ही !"

बिरजू के टूटे दूध के दाँतों की फाँक से बोली निकली, "बिलैक-मारटिन में पाँच शकरकन्द खा लिये ! हा-हा-हा !"

सभी फिर ठठाकर हँस पड़े । बिरजू की माँ ने फुआ का मन रखने के लिए पूछा, "एक कनवाँ गुड़ है । आधा डाल दूँ फुआ ?"

फुआ ने गद्गद् होकर कहा, "अरी शकरकन्द तो खुद मीठा होता है, उतना क्यों डालेगी !"

जब तक दोनों बैल दाना-घास खाकर एक-दूसरे की देह को जीभ से चाटें, बिरजू की माँ तैयार हो गयी । चम्पिया ने छींट की साड़ी पहनी और बिरजू बटन के अभाव में पैंट पर पटसन की डोरी बँधवाने लगा ।

बिरजू की माँ ने आँगन से निकल गाँव की ओर कान लगाकर सुनने की चेष्टा की, "उँहूँ, इतनी देर तक भला पदल जानेवाले रुके रहेंगे !"

पूर्णिमा का चाँद सिर पर आ गया है···बिरजू की माँ ने असली रूपा का मँगटीक्का पहना है आज, पहली बार। बिरजू के बप्पा को हो क्या गया है, गाड़ी जोतता क्यों नहीं, मुँह की ओर एकटक देख रहा है, मानो नाच की लाल पान की···

गाड़ी पर बैठते ही बिरजू की माँ की देह में एक अजीब गुदगुदी लगने लगी। उसने बाँस की बल्ली को पकड़कर कहा, "गाड़ी पर अभी बहुत जगह है।—जरा दाहिनी सड़क से गाड़ी हाँकना।"

बैल जब दौड़ने लगे और पहिया जब चूँ-चूँ करके धरधराने लगा तो बिरजू से नहीं रहा गया, "उड़नजहाज की तरह उड़ाओ बप्पा !"

गाड़ी जंगी के पिछवाड़े पहुँची। बिरजू की माँ ने कहा, "जरा जंगी से पूछो न, उसकी पतोहू नाच देखने चली गयी क्या ?

गाड़ी रुकते ही जंगी के झोंपड़े से आती हुई रोने की आवाज स्पष्ट हो गयी। बिरजू के बप्पा ने पूछा, "अरे जंगी भाई, काहे कन्ना-रोहट हो रहा है आँगन में ?"

जंगी घूर ताप रहा था, बोला, "क्या पूछते हो, रंगी बलरामपुर से लौटा नहीं, पतोहिया नाच देखने कैसे जाय ? आसरा देखते-देखते उधर गाँव की सभी औरतें चली गयीं।"

"अरी टीशनवाली, तो रोती है ?" बिरजू की माँ ने पुकारकर कहा, "आ जा, झट से कपड़ा पहनकर। सारी गाड़ी पड़ी है ! बेचारी ! ···आ जा जल्दी !"

बगल की झाड़ी से राधे की बेटी सुनरी ने कहा, "काकी, गाड़ी में जगह है ? मैं भी जाऊँगी !"

बाँस की झाड़ी के उस पार लरेना खवास का घर है। उसकी बहू भी नहीं गयी है। गिलट का झुनकी कड़ा पहनकर झमकती आ रही है।

"आ जा ! जो बाकी रह गयी है, सब आ जाय जल्दी !"

जंगी की पतोहू, लरेना की बीबी और राधे की बेटी सुनरी, तीनों गाड़ी के पास आयीं। बैल ने पिछला पैर फेंका। बिरजू के बाप ने एक भद्दी गाली दी, "साला ! लताड़ मारकर लँगड़ी बनायेगा पतोहू को !"

सभी ठठाकर हँस पड़े। बिरजू के बाप ने घूँघट में झुकी दोनों पतोहुओं को देखा। उसे अपने खेत की झुकी हुई बालियों की याद आ गयी !

जंगी की पतोहू का गौना तीन ही मास पहले हुआ है। गौने की रंगीन साड़ी से कड़वे तेल और लठवा-सिन्दूर की गन्ध आ रही है। बिरजू की माँ को अपने गौने की याद आयी। उसने कपड़े की गठरी से तीन मीठी रोटियाँ निकालकर कहा, "खा ले एक-एक कर। सिमराहा के सरकारी कूप में पानी पी लेना।"

गाड़ी गाँव से बाहर होकर धान के खेतों की बगल से जाने लगी। चाँदनी कातिक की !···खेतों से धान के झरते फूलों की गन्ध आती है। बाँस की झाड़ी में कहीं दुद्धी की लता फूली है। जंगी की पतोहू ने एक बीड़ी सुलगाकर बिरजू की माँ की ओर बढ़ायी। बिरजू की माँ को अचानक याद आयी, चम्पिया, सुनरी, लरेना की बीबी और जंगी की पतोहू, ये चारों ही तो गाँव में बैसकोप का गीत गाना जानती हैं। खूब !

गाड़ी की लीक धनखेतों के बीच होकर गयी है। चारों ओर गौने की साड़ी की खसमसाहट-जैसी आवाज होती है···बिरजू की माँ के माथे के मँगटीक्के पर चाँदनी छिटकती है।

"अच्छा, अब एक बैसकोप का गीत गा तो चम्पिया।···डरती है काहे ? जहाँ भूल जायेगी, बगल में तो मास्टरनी बैठी ही है !"

दोनों पतोहुओं ने तो नहीं, किन्तु चम्पिया और सुनरी ने खखारकर गला साफ किया।

बिरजू के बाप ने बैलों को ललकारा, "चल भैया, और जरा जोर से ! ···गा रे चम्पिया, नहीं तो बैलों को धीरे-धीरे चलने को कहूँगा।"

जंगी की पतोहू ने चम्पिया के कान के पास घूँघट ले जाकर कुछ कहा और चम्पिया ने धीमे से शुरू किया—'चन्दा की चाँदनी···'

बिरजू को गोद में लेकर बैठी उसकी माँ की इच्छा हुई कि वह भी साथ-साथ गीत गाये। बिरजू की माँ ने जंगी की पतोहू की ओर देखा, धीरे-धीरे गुनगुना रही है वह भी। कितनी प्यारी पतोहू है ! गौने की साड़ी से एक खास किस्म की गन्ध निकलती है। ठीक ही तो कहा है उसने ! बिरजू की माँ बेगम है, लाल पान की बेगम ! यह तो कोई बुरी बात नहीं। हाँ, वह सचमुच लाल-

पान की बेगम है !

बिरजू की माँ ने अपनी नाक पर दोनों आँखों को केन्द्रित करने की चेष्टा करके अपने रूप की झाँकी ली, लाल साड़ी की झिलमिल किनारी, मँगटीक्का पर चाँद।...बिरजू की माँ के मन में अब और कोई लालसा नहीं। उसे नींद आ रही है।

गुलकी बन्नो

●

धर्मवीर भारती

"ऐ मर कलमुँहे !" अकस्मात् घेघा बुआ ने कूड़ा फेंकने के लिए दरवाजा खोला और चौतरे पर बैठे मिरवा को गाते हुए देखकर कहा, "तोरे पेट में फोनोगिराफ़ उलियान बा का, जौन भिनसार भवा कि तान तौड़े लाग ? राम जानै, रात के कैसन एकरा दीदा लागत है !" मारे डर के कि कहीं घेघा बुआ सारा कूड़ा उसी के सर पर न फेंक दें, मिरवा थोड़ा खसक गया और ज्यों ही घेघा बुआ अन्दर गयीं कि फिर चौतरे की सीढ़ी पर बैठ, पैर झुलाते हुए मिरवा ने उलटा-सुलटा गाना शुरू किया, "तुमे बछ याद कलते अम छनम तेली कछम !" मिरवा की आवाज सुनकर जाने कहाँ से झबरी कुतिया भी कान-पूँछ झटकारते आ गयी और नीचे सड़क पर बैठकर मिरवा का गाना बिल्कुल उसी अन्दाज़ में सुनने लगी, जैसे हिज़ मास्टर्स वायस के रिकार्ड पर तस्वीर बनी होती है ।

अभी सारी गली में सन्नाटा था । सबसे पहले मिरवा (असली नाम मिहिरलाल) जागता था और आँख मलते-मलते घेघा बुआ के चौतरे पर आ बैठता था । उसके बाद झबरी कुतिया, फिर मिरवा की छोटी बहन मटकी और उसके बाद एक-एक कर गली के तमाम बच्चे—खोंचेवाली का लड़का मेवा, ड्राइवर साहब की लड़की निरमल, मनीजर साहब के मुन्ना बाबू—सभी आ जुटते थे । जब से गुलरी ने घेघा बुआ के चौतरे पर तरकारियों की दूकान रखी थी, तब से यह जमावड़ा वहाँ होने लगा था । उसके पहले बच्चे हकीमजी के चौतरे पर खेलते थे । धूप निकलते-निकलते गुलकी सट्टी से तरकारियाँ

खरीदकर अपनी कुबड़ी पीठ पर लादे, डण्डा टेकती आती और अपनी दूकान फैला देती। मूरी, नीबू, कद्दू, लौकी, घिया-बण्डा, कभी-कभी सस्ते फल! मिरवा और मटकी जानकी उस्ताद के बच्चे थे, जो एक भयंकर रोग में गल-गलकर मरे थे और दोनों बच्चे भी विकलांग, विक्षिप्त और रोगग्रस्त पैदा हुए थे। सिवा झबरी कुतिया के और कोई उनके पास नहीं बैठता था और सिवा गुलकी के कोई उन्हें अपनी देहरी या दूकान पर चढ़ने नहीं देता था।

आज भी गुलकी को आते देखकर सबसे पहले मिरवा गाना छोड़कर बोला, "छलाम गुलकी!" और मटकी अपने बढ़े हुए तिल्लीवाले पेट पर से खिसकता हुआ जाँघिया सम्हालते हुए बोली, "एक ठो मूली दै देव! ए गुलकी!" गुलकी पता नहीं किस बात से खीझी हुई थी कि उसने मटकी को झिड़क दिया और अपनी दूकान लगाने लगी। झबरी भी पास गयी कि गुलकी ने डण्डा उठाया। दूकान लगाकर गुलकी अपनी कुबड़ी पीठ दुहराकर बैठ गयी और जाने किसे बुड़बुड़ाकर गालियाँ देने लगी। मटकी एक क्षण चुपचाप खड़ी रही, फिर उसने रट लगाना शुरू किया, "एक मूरी! ए गुलकी! एक" गुलकी ने फिर झिड़का तो चुप हो गयी और अलग हटकर लोलुप नेत्रों से सफेद धुली हुई मूलियों की ओर देखने लगी। इस बार वह बोली नहीं। चुपचाप उन मूलियों की ओर हाथ बढ़ाया ही था कि गुलकी चीखी, "हाथ हटाओ! छूना मत। कोढ़िन, कहीं खाने-पीने की चीज़ देखी कि जोंक की तरह चिपक गयी, चल उधर!" मटकी पहले तो पीछे हटी, पर फिर उसकी तृष्णा ऐसी अदम्य हो गयी कि उसने हाथ बढ़ाकर एक मूली खींची। गुलकी का मुँह तमतमा उठा और उसने बाँस की खपच्ची उठाकर उसके हाथ पर चट से मारी! मूली नीचे जा गिरी और "हाय! हाय! हाय!" कर दोनों हाथ झटकते हुए मटकी पाँव पटक-पटककर रोने लगी। "जाओ, अपने घर रोओ! हमारी दूकान पर मरने को गली-भर के बच्चे हैं।" गुलकी चीखी! "दूकान दैके हम बिपता मोल लै लिया। छन-भर पूजा-भजन में भी कचरधाँव मची रहती है!" अन्दर से घेघा बुआ ने स्वर मिलाया। खासा हंगामा मच गया कि इतने में झबरी भी खड़ी हो गयी और लगी उदात्त स्वर में भूँकने। 'लेफ्ट राइट! लेफ्ट राइट!' चौराहे पर तीन-चार बच्चों का जलूस चला आ रहा था। आगे-आगे दर्जा 'अ' में पढ़नेवाले मुन्ना बाबू नीम की सण्टी को झण्ड की तरह थामे जलूस का

नेतृत्व कर रहे थे, पीछे थे मेवा और निरमल। जलूस आकर दूकान के सामने रुक गया। गुलकी सतर्क हो गयी। दुश्मन की ताकत बढ़ गयी थी।

मटकी सिसकते-सिसकते बोली, "हमके गुलकी मारिस है। हाय! हाय! हमके नरिया में ढकेल दिहिस। अरे बाप रे!" निरमल, मेवा, मुन्ना सब पास आकर उसकी चोट देखने लगे। फिर मुन्ना ने ढकेलकर सबको पीछे हटा दिया और सण्टी लेकर तनकर खड़े हो गये, "किसने मारा है इसे?"

"हम मारा है!" कुबड़ी गुलकी ने बड़े कष्ट से खड़े होकर कहा, "का करौगे? हमें मारौगे!" "मारैंगे क्यों नहीं?" मुन्ना बाबू ने अकड़कर कहा। गुलकी इसका कुछ जवाब देती, कि बच्चे पास घिर आये। मटकी ने जीभ निकालकर मुँह बिराया। मेवा ने पीछे जाकर कहा, "ए कुबड़ी, ए कुबड़ी, अपना कूबड़ दिखाओ!" और एक मुट्ठी धूल उसकी पीठ पर छोड़कर भागा। गुलकी का मुँह तमतमा आया और रुँध गले से कराहते हुए उसने पता नहीं क्या कहा, किन्तु उसके चेहरे पर भय की छाया बहुत गहरी हो गयी थी। बच्चे सब एक-एक मुट्ठी धूल लेकर शोर मचाते हुए दौड़े, कि अकस्मात घेघा बुआ का स्वर सुनायी पड़ा, "ए मुन्ना बाबू, जात हौ कि अबहिन बहनजी का बुलवाय के दुइ, चार कनेठी दिलवाई!" "जाते तो हैं!" मुन्ना ने अकड़ते हुए कहा, "ए मिरवा, बिगुल बजाओ।" मिरवा ने दोनों हाथ मुँह पर रखकर कहा—धुतु धुतु धू। जलूस चल पड़ा और कप्तान ने नारा लगाया—

अपने देश में अपना राज!

गुलकी की दूकान बाईकाट!

नारा लगाते हुए जलूस गली में मुड़ गया। कुबड़ी ने आँसू पोंछे, तरकारी पर से धूल झाड़ी और साग पर पानी के छींटे देने लगी।

गुलकी की उम्र ज्यादा नहीं थी। यही हद से हद २५-२६। पर चेहरे पर झुर्रियाँ आने लगी थीं और कमर के पास से वह इस तरह दोहरी हो गयी थी, जैसे ८० वर्ष की बुढ़िया हो। बच्चों ने जब पहली बार उसे मुहल्ले में देखा तो उन्हें ताज्जुब भी हुआ और थोड़ा भय भी। कहाँ से आयी? कैसे आ गयी? पहले कहाँ थी? उसका उन्हें कुछ अनुमान नहीं था। निरमल ने जरूर अपनी माँ को उसके पिता ड्राइवर से रात को कहते हुए सुना, "यह मुसीबत और खड़ी हो गयी। मरद ने निकाल दिया तो हम थोड़े ही यह ढोल गले बाँधेंगे। बाप

अलग हम लोगों का रुपया खा गया। सुना, चल बसा तो कहीं मकान हम लोग न दखल कर लें तो मरद को छोड़कर चली आयी। खबरदार जो चाभी दी तुमने।"

"क्या छोटेपन की बात करती हो? रुपया उसके बाप ने ले लिया तो क्या हम उसका मकान मार लेंगे? चाभी हमने दे-दी है। दस-पाँच दिन का नाज-पानी भेज दो उसके यहाँ।"

"हाँ-हाँ, सारा घर उठाके भेज देव। सुन रही हो घेघा बुआ!"

"तो का भवा बहू, अरे निरमल के बाबू से तो एकरे बाप की दाँतकाटी रही।" घेघा बुआ की आवाज़ आयी, "बेचारी बाप की अकेली सन्तान रही। एही के बियाह में मटियामेट हुई गवा। पर ऐसे कसाई के हाथ में दिहिस कि पाँचै बरस में कूबड़ निकल आवा।"

"साला यहाँ आवे तो हण्टर से खबर लूँ मैं।" ड्राइवर साहब बोले, "पाँच बरस बाद बाल-बच्चा हुआ। अब मरा हुआ बच्चा पैदा हुआ तो उसमें इसका क्या कसूर! साले ने सीढ़ी से ढकेल दिया। जिन्दगी-भर के लिए हड्डी खराब हो गयी न। अब कैसे गुजारा हो उसका?"

"बेटवा एको दुकान खुलवाय देव। हमारा चौतरा खाली पड़ा है। यहीं रुपया दुइ रुपया किरावा दै देवा करै, दिन-भर अपना सौदा लगाय ले। हम का मना करित है? एत्ता बड़ा चौतरा मुहल्लेवालन के काम न आयी तो का हम छाती पर धै लै जाब! पर हाँ, मुला रुपया दै देवा करै।"

दूसरे दिन यह सनसनीखेज खबर बच्चों में फैल गयी। वैसे तो हकीमजी का चबूतरा बड़ा था, पर वह कच्चा था, उस पर छाजन नहीं थी। बुआ का चौतरा लम्बा था, उस पर पत्थर जड़े थे। लकड़ी के खम्भे थे। उस पर टीन छायी थी। कई खेलों की सुविधा थी। खम्भों के पीछे किल-किल काँटे की लकीरें खींची जा सकती थीं। एक टाँग से उचक-उचककर बच्चे चिबिड्डी खेल सकते थे। पत्थर पर लकड़ी का पीढ़ा रखकर नीचे से मुड़ा हुआ तार घुमाकर रेलगाड़ी चला सकते थे। जब गुलकी ने अपनी दुकान के लिए चबूतरे के खम्भों में बाँस बाँधे तो बच्चों को लगा कि उनके साम्राज्य में किसी अज्ञात शत्रु ने आकर किलेबन्दी कर ली है। वे सहमे हुए दूर से कुबड़ी गुलकी को देखा करते थे। निरमल ही उसकी एकमात्र संवाददाता थी और निरमल का एकमात्र विश्वस्त

सूत्र था उसकी माँ। उससे जो सुना था, उसके आधार पर निरमल ने सबको बताया था कि यह चोर है। इसका बाप १०० रुपया चुराकर भाग गया। यह भी उसके घर का सारा रुपया चुराने आयी है। "रुपया चुरायेगी तो यह भी मर जायेगी।" मुन्ना ने कहा, "भगवान सबको दण्ड देता है।" निरमल बोली, "सुसराल में भी रुपया चुरायी होगी।" मेवा बोला, "अरे कूबड़ थोड़े है। ओही रुपया बाँधे है पीठ पर। मनसेधू का रुपया है।" "सचमुच?" निरमल ने अविश्वास से कहा। "और नहीं क्या। कूबड़ थोड़े है। है तो दिखावै!" मुन्ना द्वारा उत्साहित होकर मेवा पूछने ही जा रहा था कि देखा साबुनवाली सत्ती खड़ी बात कर रही है गुलकी से—कह रही, "अच्छा किया तुमने! मेहनत से दूकान करो। अब कभी थूकने भी न जाना उसके यहाँ। हरामज़ादा, दूसरी औरत कर ले, चाहे दस और कर ले। सबका खून उसी के मत्थे चढ़ेगा। यहाँ कभी आवे तो कहलाना मुझसे। इसी चाकू से दोनों आँखें निकाल लूँगी।"

बच्चे डरकर पीछे हट गये। चलते-चलते सत्ती बोली, "कभी रुपये-पैसे की जरूरत हो तो बताना बहिन!"

कुछ दिन बच्चे डरे रहे। पर अकस्मात् उन्हें यह सूझा कि सत्ती को यह कुबड़ी डराने के लिए बुलाती है। इसने उनके गुस्से में घी का काम किया। पर कर क्या सकते थे। अन्त में उन्होंने एक तरीका ईजाद किया। वे एक बुढ़िया का खेल खेलते थे। उसको उन्होंने संशोधित किया। मटकी को लैमजूस देने का लालच देकर कुबड़ी बनाया गया। वह उसी तरह पीठ दोहरी करके चलने लगी। बच्चों ने सवाल-जवाब शुरू किये—

"कुबड़ी कुबड़ी का हेराना?"
"सुई हिरानी।"
"सुई लैके का करबे?"
"कन्था सीबै!"
"कन्था सीके का करबे?"
"लकड़ी लाबै।"
"लकड़ी लाय के का करबे?"
"भात पकइबै!"
"भात पकाय के का करबे?"

"भात खावै !"

"भात के बदले लात खाबे ?"

और इसके पहले कि कुबड़ी बनी हुई मटकी कुछ कह सके, वे उसे जोर से लात मारते और मटकी मुँह के बल गिर पड़ती; उसकी कोहनियाँ और घुटने छिल जाते; आँख में आँसू आ जाते और होंठ दबाकर वह रुलाई रोकती, बच्चे खुशी से चिल्लाते, "मार डाला कुबड़ी को। मार डाला कुबड़ी को।" गुलकी यह सब देखती और मुँह फेर लेती।

एक दिन जब इसी प्रकार मटकी को कुबड़ी बनाकर गुलकी की दुकान के सामने ले गये तो इसके पहले कि मटकी जवाब दे, उन्होंने अनचित्त में उसे इतनी जोर से ढकेल दिया कि वह कुहनी भी न टेक सकी और सीधे मुँह के बल गिरी। नाक, होंठ और भौंह खून से लथपथ हो गये। वह 'हाय! हाय' कर इस बुरी तरह चीखी कि लड़के 'कुबड़ी मर गयी!' चिल्लाते हुए भी सहम गये और हतप्रभ हो गये। अकस्मात् उन्होंने देखा कि गुलकी उठी। वे जान छोड़कर भागे। पर गुलकी उठकर आयी, मटकी को गोद में लेकर पानी से उसका मुँह धोने लगी और धोती से खून पोंछने लगी। बच्चों ने पता नहीं क्या समझा, कि वह मटकी को मार रही है, या क्या कर रही है कि वे अकस्मात् उस पर टूट पड़े। गुलकी की चीखें सुनकर मुहल्ले के लोग आये तो उन्होंने देखा कि गुलकी के बाल बिखरे हैं, दाँत से खून बह रहा है, अध-उघारी चबूतरे के नीचे पड़ी है, और सारी तरकारी सड़क पर बिखरी है। घेघा बुआ ने उसे उठाया, धोती ठीक की और बिगड़कर बोलीं, "औकात रत्ती भर नै और तेहा पौवा भर। आपन बखत देख के चुप नै रहा जाता। काहे लड़कन के मुँह लगत हौ ?" लोगों ने पूछा तो कुछ नहीं बोली। जैसे उसे पाला मार गया हो। उसने चुपचाप अपनी दूकान ठीक की और दाँत से खून पोंछा, कुल्ला किया और बैठ गयी।

उसके बाद अपने उस कृत्य से बच्चे जैसे खुद सहम गये थे। बहुत दिन तक वे शान्त रहे। आज जब मेवा ने उसकी पीठ पर धूल फेंकी तो जैसे उसके खून चढ़ गया, पर फिर न जाने वह क्या सोचकर चुप रह गयी और जब नारा लगाते हुए जलूस गली में मुड़ गया तो उसने आँसू पोंछे, पीठ पर से धूल झाड़ी और साग पर पानी छिड़कने लगी। "लड़के का हैं गल्ली के, राच्छस हैं!"

घेघा बुआ बोलीं। "अरे उन्हें काहे कहो बुआ ! हमारा भाग ही खोटा है !" गुलकी ने गहरी साँस लेकर कहा।...

[२]

इस बार जो झड़ी लगी तो पाँच दिन तक लगातार सूरज के दर्शन नहीं हुए। बच्चे सब घर में कैद और गुलकी कभी दूकान लगाती थी, कभी नहीं। राम-राम करके छठवें दिन तीसरे पहर झड़ी बन्द हुई। बच्चे हकीमजी के चौतरे पर जमा हो गये। मेवा बिलबोटी बीन लाया था और निरमल ने टपकी हुई निमकौड़ियाँ बीनकर एक दूकान लगा ली थी और गुलकी की तरह आवाज लगा रही थी, "ले खीरा, आलू, मूरी, घिया-बण्डा !" थोड़ी देर में काफी शिशु ग्राहक दूकान पर जुट गये। अकस्मात् शोरगुल को चीरता हुआ बुआ के चौतरे से गीत का स्वर उठा। बच्चों ने घूमकर देखा, मिरवा और मटकी गुलकी की दूकान पर बैठे हैं। मटकी खीरा खा रही है और मिरवा झबरी का सर अपनी गोद में रखे बिल्कुल उसकी आँखों में आँखें डालकर गा रहा है।

तुरन्त मेवा गया और पता लगाकर आया कि गुलकी ने दोनों को एक-एक अधन्ना दिया है और दोनों मिलकर झबरी कुतिया के कीड़े निकाल रहे हैं। चौतरे पर हलचल मच गयी और मुन्ना ने कहा, "निरमल ! मिरवा मटकी को एक भी निमकौड़ी मत देना। रहे उसी कुबड़ी के पास।" "हाँ जी !" निरमल ने आँखें चमकाकर गोल मुँह करके कहा, "हमार अम्मा कहत रहीं उन्हें छूयो न। न साथ खायो, न खेल्यो। उन्हें बड़ी बुरी बीमारी है।" "आक थू !" मुन्ना ने उनकी ओर देखकर उबकाई-जैसा मुँह बनाकर थूक दिया।

गुलकी बैठी-बैठी सब समझ रही थी और जैसे इस निरर्थक घृणा में उसे कुछ रस-सा आने लगा था। उसने मिरवा से कहा, "तुम दोनों मिलके गाओ तो एक अधन्ना दें। खूब ज़ोर से !" दोनों भाई-बहन ने गाना शुरू किया—'माल कताली मल जाना, पर अकियाँ किछी से...' अकस्मात् फटाक से दरवाजा खुला और एक लोटा पानी दोनों के ऊपर फेंकती हुई घेघा बुआ गरजीं, "दुर कलमुँहे। अबहिन बित्तौभर के नाहीं ना और पतुरियन के गाना गावै लागे। न बहन का ख्याल, न बिटिया का। और ए कुबड़ी, हम तुहूँ से कहे देइ है कि हम चकला-खाना खोलै के बरे अपना चौतरा नहीं दिया रहा। हुँह ! चली हुँआ से मुजरा करावै।"

गुलकी ने पानी उधर छिटकाते हुए कहा, "बुआ, बच्चे हैं। गा रहे हैं। कौन कसूर हो गया !"

"ऐ हाँ ! हाँ बच्चे हैं। तुहूँ तो दूध पियत बच्ची हौ। कह दिया कि जबान न लड़ायो हमसे; हाँ ! हम बहुतै बुरी हैं। एक तो पाँच महीने से किरावा नाहीं दियो और हियाँ दुनियाँ-भर के अन्धे कोढ़ी बटुरे रहत हैं। चलौ उठाओ अपनी दुकान हियाँ से। कल से न देखी हियाँ तुम्हें। राम ! राम ! सब अधरम की सन्तान राच्छस पैदा भये मुहल्ले में ! धरतियौ नाहीं फाटत कि मर बिलाय जाँय।"

गुलकी सन्न रह गयी। उसने किराया सचमुच पाँच महीने से नहीं दिया था। बिक्री ही नहीं थी। मुहल्ले में कोई उससे कुछ लेता ही नहीं था, पर इसके लिए बुआ उसे निकाल देंगी, वह उसे कभी आशा नहीं थी। वैसे ही महीने में २० दिन भूखी सोती थी। धोती में १०, १० पैबन्द थे। मकान गिर चुका था। एक दालान में थोड़ी-सी जगह में वह सो जाती थी। पर दुकान तो वहाँ रखी नहीं जा सकती। उसने चाहा कि वह बुआ के पैर पकड़ ले, मिन्नत कर ले। पर बुआ ने जितनी जोर से दरवाजा खोला था, उतनी ही जोर से बन्द कर दिया। जब से चौमासा आया था, पुरवाई बही थी, उसकी पीठ में भयानक पीड़ा उठती थी। उसके पाँव काँपते थे। सट्टी में उस पर उधार बुरी तरह चढ़ गया था। पर अब होगा क्या ? वह मारे खीझ के रोने लगी।

इतने में कुछ खटपट हुई और उसने घुटनों से मुँह उठाकर देखा कि मौक़ा पाकर मटकी ने एक ताजा फूट निकाल लिया है और मरभुखी की तरह उसे हबर-हबर खाती जा रही है। एक क्षण वह उसके फूलते-पचकते पेट को देखती रही, फिर ख्याल आते ही कि फूट पूरे १० पैसे का है, वह उबल पड़ी और सड़ासड़ तीन-चार खपच्ची मारते हुए बोली, "चोट्टी ! कुतिया ! तोरे बदन में कीड़ा पड़ै !" मटकी के हाथ से फूट गिर पड़ा, पर वह नाली में से फूट के टुकड़े उठाते हुए भागी। न रोयी, न चीखी, क्योंकि मुँह में भी फूट भरा था। मिरवा हक्का-बक्का इस घटना को देख रहा था कि गुलकी उसी पर बरस पड़ी। सड़-सड़ उसने मिरवा को मारना शुरू किया, "भाग यहाँ से। हरामजादे।" मिरवा दर्द से तिलमिला उठा, "हमला पइछा देव तो जाई।" "देते हैं पैसा, ठहर तो !" सड़ ! सड़ !···रोता हुआ मिरवा चौतरे की ओर भागा।

निरमल की दूकान पर सन्नाटा छाया था। सब चुप उसी ओर देख रहे थे। मिरवा ने आकर कुबड़ी की शिकायत मुन्ना से की। मुन्ना चुप रहा। फिर मेवा की ओर घूमकर बोला, "मेवा, बता दो इसे !" मेवा पहले हिचकिचाया, फिर बड़ी मुलायमियत से बोला, "मिरवा, तुम्हें बीमारी है न ! तो हम लोग अब तुम्हें नहीं छुयेंगे। साथ नहीं खिलायेंगे। तुम बैठ जाओ।"

"हम बिमाल हैं मुन्ना ?"

मुन्ना कुछ पिघला, "हाँ, हमें छुओ मत। निमकौड़ी खरीदना हो तो उधर बैठ जाओ, हम दूर से फेंक देंगे ! समझे !" मिरवा समझ गया, सर हिलाया और अलग जाकर बैठ गया। मेवा ने निमकौड़ी उसके पास रख दी और वह चोट भूलकर पकी निमकौड़ी का बीजा निकालकर छीलने लगा।

इतने में ऊपर से घेघा बुआ की आवाज आयी, "ऐ मुन्ना ! तई तू लोग परे हो जाओ ! अबहिन पानी गिरी ऊपर से।" बच्चों ने ऊपर देखा। तिछत्ते पर घेघा बुआ कछोटा मारे पानी में छपछप करती घूम रही थीं। कूड़े से तिछत्ते की नाली बन्द थी और पानी भरा था। जिधर बुआ खड़ी थीं, उसके ठीक नीचे गुलकी का सौदा था। बच्चे वहाँ से दूर थे, पर गुलकी को सुनाने के लिए बात बच्चों से कही गयी थी। गुलकी कराहती हुई उठी। कूबड़ की वजह से वह तनकर तिछत्ते की ओर देख भी नहीं सकती थी। उसने धरती की ओर देखकर ऊपर बुआ से कहा, "इधर की नाली काहे खोल रही हो ? उधर की खोलो न !"

"काहे इधर की खोली ! उधर हमारे चौका है कि नै !"

"इधर हमारा सौदा लगा है।"

"ऐ है !" बुआ हाथ चमकाकर बोलीं, "सौदा लगा है रानी साहब का ! किरावा देय के दाईं हियाव फाटत है और टर्राय के दाईं नटई में गामा पहिलवान का जोर से देखो ! सौदा लगा है तो हम का करी। नारी तो इहै खुली !"

"खोलौ तो देखैं।" अकस्मात् गुलकी ने तड़पकर कहा—आज तक किसी ने उसका स्वर नहीं सुना था, "पाँच महीने का दस रुपया नहीं दिया, बस, पर हमारे घर की धन्नी निकाल के बसन्तू के हाथ किसने बेचा ? तुमने ! पच्छिम ओर का दरवाजा चिरवाके किसने जलवाया ? तुमने। हम गरीब हैं। हमारा बाप नहीं है। सारा मुहल्ला मिलके हमें मार डालो।"

"हमें चोरी लगाती है। अरे, कल की पैदा हुई।" बुआ मारे गुस्से के खड़ीबोली बोलने लगी थीं।

बच्चे चुप खड़े थे। वे कुछ-कुछ सहमे हुए थे। कुबड़ी का यह रूप उन्होंने कभी न देखा, न सोचा था।

"हाँ! हाँ! हाँ! तुमने, ड्राइवर चाचा ने, चाची ने, सबने मिलके हमारा मकान उजाड़ा है। अब हमारी दूकान बहाय देव। देखेंगे हम भी। निरबल के भी भगवान हैं!"

"ले! ले! ले! भगवान हैं तो ले!" और बुआ ने पागलों की तरह दौड़कर नाली में जमा कूड़ा लकड़ी से ठेल दिया। छः इंच मोटी गन्दे पानी की धार धड़-धड़ करती हुई उसकी दुकान पर गिरने लगी। तरोइयाँ पहले नाली में गिरीं, फिर मूली, खीरे, साग, अदरक उछल-उछलकर दूर जा गिरे। गुलकी आँखें फाड़े पागल-सी देखती रही और फिर दीवार पर सर पटककर हृदय-विदारक स्वर में डकराकर रो पड़ी, "अरे मोर बाबू—हमें कहाँ छोड़ गये—अरे मोरी माई! पैदा होते ही हमें क्यों नहीं मार डाला! अरे धरती मैया, हमें काहे नहीं लील लेतीं।"

सर खोले, बाल बिखरे, छाती कूट-कूटकर वह रो रही थी और तिछत्ते का पिछले नौ दिन का जमा पानी धड़-धड़ धड़-धड़ गिर रहा था।

बच्चे चुप खड़े थे। अब तक तो जो हो रहा था, उनकी समझ में आ रहा था। पर आज यह क्या हो गया, यह उनकी समझ में नहीं आ सका। पर वे कुछ बोले नहीं। सिर्फ मटकी उधर गयी और नाली में बहता हुआ एक मोटा खीरा निकालने लगी कि मुन्ना ने डाँटा, "खबरदार! जो कुछ चुराया।" मटकी पीछे हट गयी। वे सब किसी अप्रत्याशित भय, संवेदना या आशंका से जुड़-बटुरकर खड़े हो गये। सिर्फ मिरवा अलग सर झुकाये खड़ा था। झींसी फिर पड़ने लगी थी और वे एक-एक कर अपने घर चले गये।

दूसरे दिन चौतरा खाली था। दूकान का बाँस उखड़वाकर बुआ ने नाँद में गाड़कर उस पर तुरई की लतर चढ़ा दी थी। उस दिन बच्चे आये, पर उनकी हिम्मत उस चौतरे पर जाने की नहीं हुई। जैसे वहाँ कोई मर गया हो। बिल्कुल सुनसान चौतरा था और फिर तो ऐसी झड़ी लगी कि बच्चों का निकलना बन्द। चौथे या पाँचवें दिन रात को भयानक वर्षा तो हो ही रही थी,

पर बादल भी ऐसे गरज रहे थे कि मुन्ना अपनी खाट से उठकर अपनी माँ के पास घुस गया। बिजली चमकते ही जैसे कमरा रोशनी से नाच-नाच उठता था। छत पर बूँदों की पटर-पटर कुछ धीमी हुई, थोड़ी हवा भी चली और पेड़ों का हरहर सुनायी पड़ा कि इतने में धड़ धड़ धड़ धड़ाम! भयानक आवाज हुई। माँ भी चौंक पड़ी। पर उठी नहीं। मुन्ना आँखें खोले अँधेरे में ताकने लगा। सहसा लगा, मुहल्ले में कुछ लोग बातचीत कर रहे हैं। घेघा बुआ की आवाज सुनायी पड़ी, "किसका मकान गिरा है रे!" "गुलकी का?"—किसी का दूरागत उत्तर आया। "अरे बाप रे! दब गयी क्या?" "नहीं, आज तो मेवा की माँ के यहाँ सोयी है!" मुन्ना लेटा था और उसके ऊपर अँधेरे में यह सवाल-जवाब इधर से उधर और उधर से इधर जा रहे थे। वह फिर काँप उठा, माँ के पास घुस गया और सोते-सोते उसने साफ सुना—कुबड़ी फिर उसी तरह रो रही है, गला फाड़कर रो रही है! कौन जाने मुन्ना के ही आँगन में बैठकर रो रही हो। नींद में वह स्वर कभी दूर, कभी पास आता हुआ ऐसा लग रहा है जैसे कुबड़ी मुहल्ले के हर आँगन में जाकर रो रही हो, पर कोई सुन नहीं रहा, सिवा मुन्ना के।

[३]

बच्चों के मन में कोई बात इतनी गहरी लकीर नहीं बनाती कि उधर से उनका ध्यान हटे ही नहीं। सामने गुलकी थी तो वह एक समस्या थी, पर उसकी दूकान हट गयी, फिर वह जाकर साबुनवाली सत्ती के गलियारे में सोने लगी और दो-चार घर से माँग-जाँचकर खाने लगी, उस गली में दिखती ही नहीं थी। बच्चे भी दूसरे कामों में व्यस्त हो गये। अब जाड़ा आ रहा था, तो उनका जमावड़ा सुबह न होकर तीसरे पहर होता था। जमा होने के बाद जलूस निकलता था और जिस जोशीले नारे से गली गूँज उठती थी वह था, "घेघा बुआ को वोट दो।" पिछले दिनों म्युनिसिपैलटी का चुनाव हुआ था और उसी में बच्चों ने यह नारा सीखा था। वैसे कभी-कभी बच्चों में दो पार्टियाँ भी होती थीं, पर दोनों को घेघा बुआ से अच्छा उम्मीदवार कोई नहीं मिलता था, अतः दोनों ही गला फाड़-फाड़कर उनके लिए वोट माँगती थीं।

उस दिन जब घेघा बुआ के धैर्य का बाँध टूट गया और नयी-नयी गालियों से विभूषित अपनी प्रथम एलेक्शन स्पीच देने ज्यों ही चौतरे पर अवतरित हुई

कि उन्हें डाकिया आता हुआ दिखायी पड़ा। वह अचकचाकर रुक गयीं। डाकिया के हाथ में एक पोस्टकार्ड था और वह गुलकी को ढूँढ़ रहा था। बुआ ने लपककर पोस्टकार्ड लिया, एक साँस में पढ़ गयीं। उनकी आँखें मारे अचरज के फैल गयीं और डाकिया को यह बताकर कि गुलकी सत्ती साबुनवाले के ओसरे में रहती है, वह झट से दौड़ी। निरमल की माँ ड्राइवर की पत्नी के यहाँ गयीं, बड़ी देर तक दोनों में सलाह-मशविरा होता रहा और अन्त में बुआ आयीं और उन्होंने मेवा को भेजा, "जा, गुलकी को बुला ला!"

पर जब मेवा लौटा तो उसके साथ गुलकी नहीं, वरन् सत्ती साबुनवाली थी और सदा की भाँति इस समय भी उसकी कमर से वह काले बेंट का चाकू लटक रहा था, जिससे वह साबुन की टिक्की काटकर दूकानदारों को देती थी। उसने आते ही भौंह सिकोड़कर बुआ को देखा और कड़े स्वर में बोली, "क्यों बुलाया है गुलकी को? तुम्हारा १०) किराया बाकी था, तुमने २५) का सौदा उजाड़ दिया! अब क्या काम है!" "अरे! राम! राम! कैसा किराया बेटी! अन्दर आओ, अन्दर आओ!" बुआ के स्वर में असाधारण मुलायमियत थी। सत्ती के अन्दर जाते ही बुआ ने फटाक से किवाड़ बन्द कर लिये। बच्चों का कौतूहल बहुत बढ़ गया था। बुआ के चौके में एक झँझरी थी। सब बच्चे वहाँ पहुँचे और आँख लगाकर कनपटियों पर दोनों हथेलियाँ रखकर घण्टीवाला बाइसकोप देखने की मुद्रा में खड़े हो गये।

अन्दर सत्ती गरज रही थी, "बुलाया है तो बुलाने दो। क्यों जाय गुलकी? अब बड़ा ख्याल आया है। इसलिए कि उसकी रखैल को बच्चा हुआ है तो जाके गुलकी झाड़ू-बहारू करे, खाना बनाये, बच्चा खिलावै, और वह मरद का बच्चा गुलकी की आँख के आगे रखैल के साथ गुलछर्रे उड़ावै!"

निरमल की माँ बोलीं, "अरे बिटिया! पर गुजर तो अपने आदमी के साथ करैगी न। जब उसकी पत्री आयी है तो गुलकी को जाना चाहिए। और मरद तो मरद। एक रखैल को छोड़ दुइ-दुइ रखैल रख ले तो औरत उसे छोड़ देगी? राम! राम!"

"नहीं, छोड़ नहीं देगी तो जायके लात खायेगी?" सत्ती बोली।

"अरे बेटा!" बुआ बोली, "भगवान रहें न! तौन मथुरापुरी में कुब्जा दासी के लात मारिन तो ओकर कूबर सीधा हुइ गवा। पति तो भगवान है

बिटिया ! ओके जाय देव !"

"हाँ ! हाँ ! बड़ी हितू न बनिये । उनके आदमी से आप लोग मुफ्त में गुलकी का मकान झटकना चाहती हैं । मैं सब समझती हूँ ।"

निरमल की माँ का चेहरा जर्द पड़ गया । पर बुआ ने ऐसी कच्ची ग़ोली नहीं खेली थी । वे डपटकर बोलीं, "खबरदार जो कच्ची जबान निकाल्यो ! तुम्हारा चलित्तर कौन नै जानता ! ओही छोकरा मानिक..."

"जबान खींच लूँगी ।" सत्ती गला फाड़कर चीखी, "जो आगे एक हरुफ़ कहा ।" और उसका हाथ अपने चाकू पर गया—

"अरे ! अरे ! अरे !" बुआ सहमकर दस कदम पीछे हट गयीं, "तो का खून करबो का, कतल करबो का ?" —सत्ती जैसे आयी थी वैसे ही चली गयी।

तीसरे दिन बच्चों ने तय किया कि होरी बाबू के कुएँ पर चलकर बर्रें पकड़ी जायँ । उन दिनों उनका जहर शान्त रहता है, बच्चे उन्हें पकड़कर उनका छोटा-सा काला डंक निकाल लेते और फिर डोरी में बाँधकर उन्हें उड़ाते हुए घूमते । मेवा, निरमल और मुन्ना एक-एक बर्रें उड़ाते हुए जब गली में पहुँचे तो वहाँ देखा, बुआ के चौतरे पर टीन की कुर्सी डाले कोई आदमी बैठा है । उसकी अजीब शकल थी । कान पर बड़े-बड़े बाल, मिचमिची आँखें, मोछा और तेल से चुचुआते हुए बाल । कमीज और धोती, पुराने बदरंग बूट । मटकी हाथ फैलाये कह रही है, "एक डबल दै देव ! ए दै देव ना ।" मुन्ना को देखकर मटकी ताली बजा-बजाकर कहने लगी, "गुलकी का मनसेधू आवा है । ए मुन्ना बाबू ! ई कुबड़ी का मनसेधू है ।" फिर उधर मुड़कर, "एक डबल दै देव ।" तीनों बच्चे कौतूहल से रुक गये । इतने में निरमल की माँ एक गिलास में चाय भरकर लायी और उसे देते-देते निर्मल के हाथ में बर्रें देखकर उसे डाँटने लगी । बर्रें छुड़ाकर निरमल को पास बुलाया और बोली, "बेटा, ई हमारी निर्मला है ! ए निरमल, जीजाजी हैं, हाथ जोड़ो ! बेटा, गुलकी हमारी जात-बिरादर की नहीं है तो का हुआ, हमारे लिए जैसे निरमल वैसे गुलकी । अरे निरमल के बाबू और गुलकी के बाप की दाँतकाटी रही । एक मकान बचा है उनकी चिन्हारी, और का !" एक गहरी साँस लेकर निरमल की माँ ने कहा

"अरे तो का उन्हें कोई इन्कार है ।" बुआ आ गयी थीं, "अरे १००) तुम देबै किये रह्यू ; चलो ३००) और दै देव । अपने नाम कराय लेव !"

"५००) से कम नहीं होगा !" उस ग्रादमी का मुँह खुला, एक वाक्य निकला ग्रौर मुँह फिर बन्द हो गया।

"भवा ! भवा ! ऐ बेटा दामाद हौ, ५००) कहबो तो का निरमल की माँ को इन्कार है।"

अकस्मात वह ग्रादमी उठकर खड़ा हो गया। ग्रागे-ग्रागे सत्ती चली ग्रा रही थी, पीछे-पीछे गुलकी। सत्ती चौतरे के नीचे खड़ी हो गयी। बच्चे दूर हट गये। गुलकी ने सर उठाकर देखा ग्रौर अचकचाकर सर पर पल्ला डालकर माथे तक खींच लिया। सत्ती दो-एक क्षण उसकी ग्रोर एकटक देखती रही ग्रौर फिर गरजकर बोली, "यही कसाई है। गुलकी, ग्रागे बढ़कर मार दो चपोटा इसके मुँह पर ! खबरदार, जो कोई बोला !" बुग्रा चट से देहरी के अन्दर हो गयी, निरमल की माँ की जैसे घिग्घी बँध गयी ग्रौर वह ग्रादमी हड़बड़ाकर पीछे हटने लगा।

"बढ़ती क्यों नहीं, गुलकी ! बड़ा ग्राया वहाँ से बिदा कराने !"

गुलकी ग्रागे बढ़ी—सब सन्न थे—सीढ़ी चढ़ी, उस ग्रादमी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। गुलकी चढ़ते-चढ़ते रुकी, सत्ती की ग्रोर देखा, ठिठकी, अकस्मात् लपकी ग्रौर फिर उस ग्रादमी के पाँव पर गिरके फफक-फफककर रोने लगी, "हाय हमें काहे को छोड़ दियो ! तुम्हरे सिवा हमरा लोक-परलोक ग्रौर कौन है। अरे, हमरे मरै पर कौन चुल्लू-भर पानी चढ़ाई···"

सत्ती का चेहरा स्याह पड़ गया। उसने बड़ी हिकारत से गुलकी की ग्रोर देखा ग्रौर गुस्से में थूक निगलते हुए कहा, "कुतिया !" ग्रौर तेजी से चली गयी। निरमल की माँ ग्रौर बुग्रा गुलकी के सर पर हाथ फेर-फेरकर कह रही थीं, "मत रो बिटिया ! मत रो ! सीता मइया भी तो बनवास भोगिन रहा ! उठो गुलकी बेटा, धोती बदल लेव, कंघी चोटी करो ! पति के सामने ऐसे ग्राना असगुन होता है ! चलो।"

गुलकी ग्राँसू पोंछती-पोंछती निरमल की माँ के घर चली। बच्चे पीछे-पीछे चले तो बुग्रा ने डाँटा, "ऐं चलो एहर, हुँग्रा लड्डू बँट रहा है का !"

दूसरे दिन निरमल के बाबू (ड्राइवर साहब), गुलकी ग्रौर जीजा दिन-भर कचहरी में रहे। शाम को लौटे तो निरमल की माँ ने पूछा, "पक्का कागज लिख गया ?" "हाँ, हाँ रे, हाकिम के सामने लिख गया।" फिर जरा निकट

ग्राकर फुसफुसाकर बोले, "मट्टी के मोल मकान मिला है। अब कल दोनों को बिदा करो!" "अरे, पहले १००) लाओ! बुआ का हिस्सा भी तो देना है!" निरमल की माँ उदास स्वर में बोली, "बड़ी चंट है बुढ़िया, गाड़-गाड़के रख रही है, मरके साँप होयगी।"

[४]

सुबह निरमल की माँ के यहाँ मकान खरीदने की कथा थी। शंख, घण्टा-घड़ियाली, केले का पत्ता, पंजीरी, पंचामृत का आयोजन देखकर मुन्ना के अलावा सब बच्चे इकट्ठे थे। निरमल की माँ और निरमल के बाबू पीढ़े पर बैठे थे; गुलकी एक पीली धोती पहने, माथे तक घूँघट काढ़े सुपारी काट रही थी और बच्चे झाँक-झाँककर देख रहे थे। मेवा ने पास पहुँचकर कहा, "ए गुलकी, ए गुलकी, जीजाजी के साथ जाओगी क्या?" कुबड़ी ने झेंपकर कहा, "धत्त रे! ठिठोली करता है!" और लज्जा-भरी जो मुस्कान किसी भी तरुणी के चेहरे पर मन-मोहक लाली बनकर फैल जाती, वह उसके झुर्रियोंदार, बेडौल, नीरस चेहरे पर विचित्र रूप से वीभत्स लगने लगी। उसके काले पपड़ीदार होंठ सिकुड़ गये, आँखों के कोने मिचमिचा उठे और अत्यन्त कुरुचिपूर्ण ढंग से उसने अपने पल्ले से सर ढँक लिया और पीठ सीधी कर जैसे कूबड़ छिपाने का प्रयास करने लगी। मेवा पास ही बैठ गया। कुबड़ी ने पहले इधर-उधर देखा, फिर फुस-फुसाकर मेवा से कहा, "क्यों रे! जीजाजी कैसे लगे तुझे?" मेवा ने असमंजस में या संकोच में पड़कर कोई जवाब नहीं दिया तो जैसे अपने को समझाते हुए गुलकी बोली, "कुछ भी होय। है तो अपना आदमी! हारे-गाढ़े कोई और काम आवेगा? औरत को दबाय के रखना ही चाहिए।" फिर थोड़ी देर चुप रहकर बोली, "मेवा भइया, सत्ती हमसे नाराज है। अपनी सगी बहन क्या करेगी जो सत्ती ने किया हमारे लिए। ये चाची और बुआ तो सब मतलब के साथी हैं, हम क्या जानते नहीं? पर भइया, अब जो कहो कि हम सत्ती के कहने से अपने मरद को छोड़ दें, सो नहीं हो सकता।" इतने में किसी का छोटा-सा बच्चा घुटनों के बल चलते-चलते मेवा के पास आकर बैठ गया। गुलकी क्षण-भर उसे देखती रही। फिर बोली, "पति से हमने अपराध किया तो भगवान ने बच्चा छीन लिया, अब भगवान हमें क्षमा कर देंगे।" फिर कुछ क्षण के लिए चुप हो गयी, "क्षमा करेंगे तो दूसरी सन्तान देंगे। क्यों नहीं देंगे?

तुम्हारे जीजाजी को भगवान बनाये रखे। खोट तो हमीं में है फिर सन्तान होगी तब तो सौत का राज नहीं चलेगा।"

इतने में गुलकी ने देखा कि दरवाजे पर उसका आदमी खड़ा बुआ से कुछ बातें कर रहा है। गुलकी ने तुरन्त पल्ले से सर ढँका और लजाकर उधर पीठ कर ली। बोली, "राम! राम! कितने दुबरा गये हैं। हमारे बिना खाने-पीने का कौन ध्यान रखता? अरे, सौत तो अपने मतलब की होगी। ले भइया मेवा, जा दो बीड़ा पान दे आ जीजा को!" फिर उसके मुँह पर वही लज्जा की वीभत्स मुद्रा आयी, "तुझे कसम है, बताना मत किसने दिया है।"

मेवा पान लेकर गया, पर वहाँ किसी ने उस पर ध्यान ही नहीं दिया। वह आदमी बुआ से कह रहा था, "इसे ले तो जा रहे हैं, पर इतना कहे देते हैं। आप भी समझा दें उसे—कि रहना हो तो दासी बनकर रहे। न दूध की, न पूत की। हमारे कौन काम की; पर हाँ औरतिया की सेवा करे, उसका बच्चा खिलावे, झाड़ू-बुहारू करे तो दो रोटी खाय पड़ी रहे। पर कभी उससे जबान लड़ायी तो खैर नहीं। हमारा हाथ बड़ा जालिम है। एक बार कूबड़ निकला, अगली बार परान ही निकलेगा।"

"क्यों नहीं बेटा! क्यों नहीं!" बुआ बोलीं और उन्होंने मेवा के हाथ से पान लेकर अपने मुँह में दबा लिये!

करीब ३ बजे इक्का लाने के लिए निरमल की माँ ने मेवा को भेजा। कथा की भीड़-भाड़ से उनका 'मूड़ पिराने' लगा था, अतः अकेली गुलकी सारी तैयारी कर रही थी। मटकी कोने में खड़ी थी। मिरवा और झबरी बाहर गुमसुम बैठे थे। निरमल की माँ ने बुआ को बुलवाकर पूछा कि बिदा-बिदाई में क्या करना होगा, तो बुआ मुँह बिगाड़कर बोलीं "अरे, कोई जात-बिरादरी की है का? एक लोटा में पानी भरके इकन्नी-दुअन्नी उतारके परजा-पजारू को दै दियो बस!" और फिर बुआ शाम की बियारी में लग गयीं।

इक्का आते ही जैसे झबरी पागल-सी इधर-उधर दौड़ने लगी। उसे जाने कैसे, आभास हो गया कि गुलकी जा रही है, सदा के लिए। मेवा ने अपने छोटे-छोटे हाथों से बड़ी-बड़ी गठरियाँ रखीं, मटकी और मिरवा चुपचाप आकर इक्के के पास खड़े हो गये। सिर झुकाये पत्थर-सी चुप गुलकी निकली। आगे-आगे हाथ में पानी का भरा लोटा लिये निरमल थी। वह आदमी जाकर इक्के

पर बैठ गया। "अब जल्दी करो !" उसने भारी गले से कहा। गुलकी आगे बढ़ी, फिर रुकी और उसने टेंट से दो अधन्ने निकाले, "ले मिरवा, ले मटकी !" मटकी जो हमेशा हाथ फैलाये रहती थी, इस समय जाने कैसा संकोच उसे आ गया कि वह हाथ नीचे कर दीवार से सटकर खड़ी हो गयी और सर हिलाकर बोली, "नहीं !" "नहीं बेटा ! ले लो !" गुलकी ने पुचकारकर कहा। मिरवा मटकी ने पैसे ले लिये और मिरवा बोला, "छलाम गुलकी ! ए आदमी छलाम !"

"अब क्या गाड़ी छोड़नी है !" वह फिर भारी गले से बोला।

"ठहरो बेटा, कहीं ऐसे दामाद की बिदाई होती है !" सहसा एक बिल्कुल अजनबी, किन्तु अत्यन्त मोटा स्वर सुनायी पड़ा। बच्चों ने अचरज से देखा, मुन्ना की माँ चली आ रही हैं। "हम तो मुन्ना का आसरा देख रहे थे कि स्कूल से आ जाय, उसे नाश्ता करा लें तो आयें, पर इक्का आ गया तो हमने समझा अब तू चली। अरे ! निरमल की माँ, कहीं ऐसे बेटी की बिदाई होती है ! लाओ जरा रोली घोलो जल्दी से, चावल लाओ और सेन्दुर भी ले आना निरमल बेटा ! तुम बेटा, उतर आओ इक्के से !"

निरमल की माँ का चेहरा स्याह पड़ गया था। बोली, "जितना हमसे बन पड़ा, किया। किसी को दौलत का घमण्ड थोड़े ही दिखाना था !" "नहीं बहन ! तुमने तो किया, पर मुहल्ले की बिटिया तो सारे मुहल्ले की बिटिया होती है। हमारा भी तो फर्ज था। अरे माँ-बाप नहीं हैं तो मुहल्ला तो है। आओ बेटा।" और उन्होंने टीका करके आँचल के नीचे छिपाये हुए कुछ कपड़े और एक नारियल उसकी गोद में डालकर उसे चिपका लिया। गुलकी जो अभी तक पत्थर-सी चुप थी, सहसा फूट पड़ी। उसे पहली बार लगा, जैसे वह मायके से जा रही है। मायके से···अपनी माँ को छोड़कर···छोटे-छोटे भाई-बहनों को छोड़कर···और वह अपने कर्कश फटे हुए गले से विचित्र स्वर से रो पड़ी।

"ले ! अब चुप हो जा ! तेरा भाई भी आ गया।" वे बोलीं। मुन्ना बस्ता लटकाये स्कूल से चला आ रहा था। कुबड़ी को अपनी माँ के कन्धे पर सर रखकर रोते देखकर वह बिल्कुल हतप्रभ-सा खड़ा हो गया। "आओ बेटा ! गुलकी जा रही है न आज ! दीदी है न ! बड़ी बहन है। चल पाँव छू ले ! आ इधर !" माँ ने फिर कहा। मुन्ना···और कुबड़ी के पाँव छुये ? क्यों ?

क्यों ? पर माँ की बात ! एक क्षण में उसके मन में जैसे एक पूरा पहिया घूम गया और वह गुलकी की ओर बढ़ा। गुलकी ने दौड़कर उसे चिपका लिया और फूट पड़ी, "हाय मेरे भइया ! अब हम जा रहे हैं ! अब किससे लड़ोगे मुन्ना भइया ! अरे मेरे वीरन, अब किससे लड़ोगे ?" मुन्ना को लगा जैसे उसकी छोटी-छोटी पसलियों में एक बहुत बड़ा-सा आँसू जमा हो गया जो अब छलकने ही वाला है। इतने में उस आदमी ने फिर आवाज दी और गुलकी कराहकर मुन्ना की माँ का सहारा लेकर इक्के पर बैठ गयी। इक्का खड़-खड़कर चल पड़ा। मुन्ना की माँ मुड़ी कि बुआ ने व्यंग्य किया, "एक-आध गाना भी बिदाई का गाये जाओ बहन ! गुलकी बन्नो ससुराल जा रही है !" मुन्ना की माँ ने कुछ जवाब नहीं दिया, मुन्ना से बोलीं, "जल्दी घर आना बेटा। नाश्ता रखा है !"

पर पागल मिरवा ने, जो बम्बे पर पाँव लटकाये बैठा था, जाने क्या सोचा कि वह सचमुच गला फाड़कर गाने लगा, "बन्नो डाले दुपट्टे का पल्ला, मुहल्ले से चली गयी राम !" यह उस मुहल्ले में हर लड़की की विदा पर गाया जाता था। बुआ ने घुड़का तब भी वह चुप नहीं हुआ, उल्टे मटकी बोली, "काहे न गावें, गुलकी ने पैसा दिया है !" और उसने भी सुर मिलाया, "बन्नो तली गयी लाम ! बन्नो तली गयी लाम ! बन्नो तली गयी लाम !"

मुन्ना चुपचाप खड़ा रहा। मटकी डरते-डरते आयी, "मुन्ना बाबू ! कुबड़ी ने अधन्ना दिया है, ले लें ?"

"ले ले !" बड़ी मुश्किल से मुन्ना ने कहा और उसकी आँखों में दो बड़े-बड़े आँसू डबडबा आये। उन्हीं आँसुओं की झिलमिली में कोशिश करके मुन्ना ने जाते हुए इक्के की ओर देखा। गुलकी आँसू पोंछते हुए पर्दा उठाकर सबको मुड़-मुड़कर देख रही थी। मोड़ पर एक धचक्के से इनका इक्का मुड़ा और फिर अदृश्य हो गया।

सिर्फ झबरी सड़क तक इक्के के साथ गयी और फिर लौट आयी।

दोपहर का भोजन

●

अमरकान्त

सिद्धेश्वरी ने खाना बनाने के बाद चूल्हे को बुझा दिया और दोनों घुटनों के बीच सिर रखकर शायद पैर की उँगलियाँ या जमीन पर चलते चींटे-चींटियों को देखने लगी। अचानक उसे मालूम हुआ कि बहुत देर से उसे प्यास लगी है। वह मतवाले की तरह उठी और गगरे से लोटा-भर पानी लेकर गट-गट चढ़ा गयी। खाली पानी उसके कलेजे में लग गया और वह 'हाय राम' कहकर वहीं जमीन पर लेट गयी।

आधे घण्टे तक वहीं उसी तरह पड़ी रहने के बाद उसके जी में जी आया। वह बैठ गयी, आँखों को मल-मलकर इधर-उधर देखा और फिर उसकी दृष्टि ओसारे में अध-टूटे खटोले पर सोये अपने छह-वर्षीय लड़के प्रमोद पर जम गयी। लड़का नंगधड़ंग पड़ा था। उसके गले तथा छाती की हड्डियाँ साफ दिखायी देती थीं। उसके हाथ-पैर बासी ककड़ियों की तरह सूखे तथा बेजान पड़े थे और उसका पेट हँड़िया की तरह फूला हुआ था। उसका मुँह खुला हुआ था और उस पर अनगिनत मक्खियाँ उड़ रही थीं।

वह उठी, बच्चे के मुँह पर अपना एक फटा, गन्दा ब्लाउज़ डाल दिया और एक-आध मिनट सुन्न खड़ी रहने के बाद बाहर दरवाजे पर जाकर किवाड़ की आड़ से गली निहारने लगी। बारह बज चुके थे। धूप अत्यन्त तेज थी और कभी-कभी एक-दो व्यक्ति सिर पर तौलिया या गमछा रखे हुए या मजबूती से छाता ताने हुए फुर्ती के साथ लपकते हुए-से गुजर जाते।

दस-पन्द्रह मिनट तक वह उसी तरह खड़ी रही, फिर उसके चेहरे पर व्यग्रता

फैल गयी श्रौर उसने आसमान तथा कड़ी धूप की ओर चिन्ता से देखा। एक-दो क्षण बाद उसने सिर को किवाड़ से काफी आगे बढ़ाकर गली के छोर की तरफ निहारा, तो उसका बड़ा लड़का रामचन्द्र धीरे-धीरे घर की ओर सरकता नजर आया।

उसने फुर्ती से एक लोटा पानी ओसारे की चौकी के पास नीचे रख दिया और चौके में जाकर खाने के स्थान को जल्दी-जल्दी पानी से लीपने-पोतने लगी। वहाँ पीढ़ा रखकर उसने सिर को दरवाजे की ओर घुमाया ही था कि रामचन्द्र ने अन्दर कदम रखा।

रामचन्द्र आकर धम से चौकी पर बैठ गया और फिर वहीं बेजान-सा लेट गया। उसका मुँह लाल तथा चढ़ा हुआ था, उसके बाल अस्त-व्यस्त थे और उसके फटे-पुराने जूतों पर गर्द जमी हुई थी।

सिद्धेश्वरी की पहले हिम्मत नहीं हुई कि उसके पास आये और वहीं वह भयभीत हिरनी की भाँति सिर उचका-घुमाकर बेटे को व्यग्रता से निहारती रही। किन्तु, लगभग दस मिनट के पश्चात भी जब रामचन्द्र नहीं उठा, तो वह घबरा गयी। पास जाकर पुकारा, "बड़कू, बड़कू।" लेकिन उसके कुछ उत्तर न देने पर डर गयी और लड़के की नाक के पास हाथ रख दिया। साँस ठीक से चल रही थी। फिर सिर पर हाथ रखकर देखा, बुखार नहीं था। हाथ के स्पर्श से रामचन्द्र ने आँखें खोलीं। पहले उसने माँ की ओर सुस्त नजरों से देखा, फिर झट से उठ बैठा। जूते निकालने और नीचे रखे लोटे के जल से हाथ-पैर धोने के बाद वह यन्त्र की तरह चौकी पर आकर बैठ गया।

सिद्धेश्वरी ने डरते-डरते पूछा, "खाना तैयार है, यहीं लाऊँ क्या ?"

रामचन्द्र ने उठते हुए प्रश्न किया, "बाबूजी खा चुके ?"

सिद्धेश्वरी ने चौके की ओर भागते हुए उत्तर दिया, "आते ही होंगे।"

रामचन्द्र पीढ़े पर बैठ गया। उसकी उम्र लगभग इक्कीस वर्ष थी। लम्बा, दुबला-पतला, गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आँखें तथा होंठों पर झुर्रियाँ। वह एक स्थानीय दैनिक समाचारपत्र के दफ्तर में अपनी तबीयत से प्रूफ-रीडरी का काम सीखता था। पिछले साल ही उसने इंटर पास किया था।

सिद्धेश्वरी ने खाने की थाली लाकर सामने रख दी और पास ही बैठकर पंखा करने लगी। रामचन्द्र ने खाने की ओर दार्शनिक की भाँति देखा। कुल

दोपहर का भोजन

●

अमरकान्त

सिद्धेश्वरी ने खाना बनाने के बाद चूल्हे को बुझा दिया और दोनों घुटनों के बीच सिर रखकर शायद पैर की उँगलियाँ या जमीन पर चलते चींटे-चींटियों को देखने लगी। अचानक उसे मालूम हुआ कि बहुत देर से उसे प्यास लगी है। वह मतवाले की तरह उठी और गगरे से लोटा-भर पानी लेकर गट-गट चढ़ा गयी। खाली पानी उसके कलेजे में लग गया और वह 'हाय राम' कहकर वहीं जमीन पर लेट गयी।

आधे घण्टे तक वहीं उसी तरह पड़ी रहने के बाद उसके जी में जी आया। वह बैठ गयी, आँखों को मल-मलकर इधर-उधर देखा और फिर उसकी दृष्टि ओसारे में अध-टूटे खटोले पर सोये अपने छह-वर्षीय लड़के प्रमोद पर जम गयी। लड़का नंगधड़ंग पड़ा था। उसके गले तथा छाती की हड्डियाँ साफ दिखायी देती थीं। उसके हाथ-पैर बासी ककड़ियों की तरह सूखे तथा बेजान पड़े थे और उसका पेट हँड़िया की तरह फूला हुआ था। उसका मुँह खुला हुआ था और उस पर अनगिनत मक्खियाँ उड़ रही थीं।

वह उठी, बच्चे के मुँह पर अपना एक फटा, गन्दा ब्लाउज़ डाल दिया और एक-आध मिनट सुन्न खड़ी रहने के बाद बाहर दरवाजे पर जाकर किवाड़ की आड़ से गली निहारने लगी। बारह बज चुके थे। धूप अत्यन्त तेज थी और कभी-कभी एक-दो व्यक्ति सिर पर तौलिया या गमछा रखे हुए या मजबूती से छाता ताने हुए फुर्ती के साथ लपकते हुए-से गुजर जाते।

दस-पन्द्रह मिनट तक वह उसी तरह खड़ी रही, फिर उसके चेहरे पर व्यग्रता

फैल गयी और उसने आसमान तथा कड़ी धूप की ओर चिन्ता से देखा। एक-दो क्षण बाद उसने सिर को किवाड़ से काफी आगे बढ़ाकर गली के छोर की तरफ निहारा, तो उसका बड़ा लड़का रामचन्द्र धीरे-धीरे घर की ओर सरकता नजर आया।

उसने फुर्ती से एक लोटा पानी ओसारे की चौकी के पास नीचे रख दिया और चौके में जाकर खाने के स्थान को जल्दी-जल्दी पानी से लीपने-पोतने लगी। वहाँ पीढ़ा रखकर उसने सिर को दरवाजे की ओर घुमाया ही था कि रामचन्द्र ने अन्दर कदम रखा।

रामचन्द्र आकर धम से चौकी पर बैठ गया और फिर वहीं बेजान-सा लेट गया। उसका मुँह लाल तथा चढ़ा हुआ था, उसके बाल अस्त-व्यस्त थे और उसके फटे-पुराने जूतों पर गर्द जमी हुई थी।

सिद्धेश्वरी की पहले हिम्मत नहीं हुई कि उसके पास आये और वहीं वह भयभीत हिरनी की भाँति सिर उचका-घुमाकर बेटे को व्यग्रता से निहारती रही। किन्तु, लगभग दस मिनट के पश्चात भी जब रामचन्द्र नहीं उठा, तो वह घबरा गयी। पास जाकर पुकारा, "बड़कू, बड़कू।" लेकिन उसके कुछ उत्तर न देने पर डर गयी और लड़के की नाक के पास हाथ रख दिया। साँस ठीक से चल रही थी। फिर सिर पर हाथ रखकर देखा, बुखार नहीं था। हाथ के स्पर्श से रामचन्द्र ने आँखें खोलीं। पहले उसने माँ की ओर सुस्त नजरों से देखा, फिर झट से उठ बैठा। जूते निकालने और नीचे रखे लोटे के जल से हाथ-पैर धोने के बाद वह यन्त्र की तरह चौकी पर आकर बैठ गया।

सिद्धेश्वरी ने डरते-डरते पूछा, "खाना तैयार है, यहीं लाऊँ क्या?"

रामचन्द्र ने उठते हुए प्रश्न किया, "बाबूजी खा चुके?"

सिद्धेश्वरी ने चौके की ओर भागते हुए उत्तर दिया, "आते ही होंगे।"

रामचन्द्र पीढ़े पर बैठ गया। उसकी उम्र लगभग इक्कीस वर्ष थी। लम्बा, दुबला-पतला, गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आँखें तथा होंठों पर झुर्रियाँ। वह एक स्थानीय दैनिक समाचारपत्र के दफ्तर में अपनी तबीयत से प्रूफ-रीडरी का काम सीखता था। पिछले साल ही उसने इंटर पास किया था।

सिद्धेश्वरी ने खाने की थाली लाकर सामने रख दी और पास ही बैठकर पंखा करने लगी। रामचन्द्र ने खाने की ओर दार्शनिक की भाँति देखा। कुल

दो रोटियाँ, भर कटोरा पनियाई दाल और चने की तली तरकारी।

रामचन्द्र ने रोटी के प्रथम टुकड़े को निगलते हुए पूछा, "मोहन कहाँ है? बड़ी कड़ी धूप हो रही है।"

मोहन सिद्धेश्वरी का मँझला लड़का था। उम्र अठारह वर्ष थी और वह इस साल हाईस्कूल का प्राइवेट इम्तहान देने की तैयारी कर रहा था। वह न मालूम कब से घर से गायब था और सिद्धेश्वरी को स्वयं पता नहीं था कि वह कहाँ गया है।

किन्तु सच बोलने की उसकी तबीयत नहीं हुई और झूठ-मूठ कहा, "किसी लड़के के यहाँ पढ़ने गया है, आता ही होगा। दिमाग उसका बड़ा तेज है और उसकी तबीयत चौबीसों घण्टे पढ़ने में ही लगी रहती है। हमेशा उसी की बात करता रहता है।"

रामचन्द्र ने कुछ नहीं कहा। एक टुकड़ा मुँह में रखकर भरा गिलास पानी पी गया, फिर खाने में लग गया। वह काफी छोटे-छोटे टुकड़े तोड़कर उन्हें धीरे-धीरे चबा रहा था।

सिद्धेश्वरी भय तथा आतंक से अपने बेटे को एकटक निहार रही थी। कुछ क्षण बीतने के बाद डरते-डरते उसने पूछा, "वहाँ कुछ हुआ क्या?"

रामचन्द्र ने अपनी बड़ी-बड़ी भावहीन आँखों से अपनी माँ को देखा, फिर नीचा सिर करके कुछ रुखाई से बोला, "समय आने पर सब ठीक हो जायेगा।"

सिद्धेश्वरी चुप रही। धूप और तेज़ होती जा रही थी। छोटे आँगन के ऊपर आसमान में बादल के एक-दो टुकड़े पाल की नावों की तरह तैर रहे थे। बाहर की गली से गुजरते हुए एक खड़खड़िया इक्के की आवाज़ आ रही थी। और खटोले पर सोये बालक की साँस का खर-खर शब्द सुनायी दे रहा था।

रामचन्द्र ने अचानक चुप्पी को भंग करते हुए पूछा, "प्रमोद खा चुका?"

सिद्धेश्वरी ने प्रमोद की ओर देखते हुए उदास स्वर में उत्तर दिया, "हाँ, खा चुका।"

"रोया तो नहीं था?"

सिद्धेश्वरी फिर झूठ बोल गयी, "आज तो सचमुच नहीं रोया। वह बड़ा ही होशियार हो गया है। कहता था, बड़का भैया के यहाँ जाऊँगा। ऐसा

लड़का…"

पर वह आगे कुछ न बोल सकी, जैसे उसके गले में कुछ अटक गया। कल प्रमोद ने रेवड़ी खाने की जिद पकड़ ली थी और उसके लिए डेढ़ घण्टे तक रोने के बाद सोया था।

रामचन्द्र ने कुछ आश्चर्य के साथ अपनी माँ की ओर देखा और फिर सिर नीचा करके कुछ तेजी से खाने लगा।

थाली में जब रोटी का केवल एक टुकड़ा शेष रह गया, तो सिद्धेश्वरी ने उठने का उपक्रम करते हुए प्रश्न किया, "एक रोटी और लाती हूँ ?"

रामचन्द्र हाथ से मना करते हुए हड़बड़ाकर बोल पड़ा, "नहीं-नहीं, जरा भी नहीं। मेरा पेट पहले ही भर चुका है। मैं तो यह भी छोड़नेवाला हूँ। बस, अब नहीं।"

सिद्धेश्वरी ने जिद की, "अच्छा, आधी ही सही।"

रामचन्द्र बिगड़ उठा, "अधिक खिलाकर बीमार बना डालने की तबीयत है क्या ? तुम लोग जरा भी नहीं सोचते हो। बस, अपनी जिद। भूख रहती तो क्या ले नहीं लेता ?"

सिद्धेश्वरी जहाँ-की-तहाँ बैठी ही रह गयी। रामचन्द्र ने थाली में बचे टुकड़े से हाथ खींच लिया और लोटे की ओर देखते हुए कहा, "पानी लाओ।"

सिद्धेश्वरी लोटा लेकर पानी लेने चली गयी। रामचन्द्र ने कटोरे को उँगलियों से बजाया, फिर हाथ को थाली में रख दिया। एक-दो क्षण बाद रोटी के टुकड़े को धीरे से हाथ से उठाकर आँख से निहारा और अन्त में इधर-उधर देखने के बाद टुकड़े को मुँह में इस सरलता से रख लिया, जैसे वह भोजन का ग्रास न होकर पान का बीड़ा हो।

मँझला लड़का मोहन आते ही हाथ-पैर धोकर पीढ़े पर बैठ गया। वह कुछ साँवला था और उसकी आँखें छोटी थीं। उसके चेहरे पर चेचक के दाग थे। वह अपने भाई ही की तरह दुबला-पतला था, किन्तु उतना लम्बा न था। वह उम्र की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीर और उदास दिखायी पड़ रहा था।

सिद्धेश्वरी ने उसके सामने थाली रखते हुए प्रश्न किया, "कहाँ रह गये थे बेटा ? भैया पूछ रहा था।"

मोहन ने रोटी के एक बड़े ग्रास को निगलने की कोशिश करते हुए अस्वा-

दो रोटियाँ, भर कटोरा पनियाई दाल और चने की तली तरकारी।

रामचन्द्र ने रोटी के प्रथम टुकड़े को निगलते हुए पूछा, "मोहन कहाँ है ? बड़ी कड़ी धूप हो रही है।"

मोहन सिद्धेश्वरी का मँझला लड़का था। उम्र अठारह वर्ष थी और वह इस साल हाईस्कूल का प्राइवेट इम्तहान देने की तैयारी कर रहा था। वह न मालूम कब से घर से गायब था और सिद्धेश्वरी को स्वयं पता नहीं था कि वह कहाँ गया है।

किन्तु सच बोलने की उसकी तबीयत नहीं हुई और झूठ-मूठ कहा, "किसी लड़के के यहाँ पढ़ने गया है, आता ही होगा। दिमाग उसका बड़ा तेज है और उसकी तबीयत चौबीसों घण्टे पढ़ने में ही लगी रहती है। हमेशा उसी की बात करता रहता है।"

रामचन्द्र ने कुछ नहीं कहा। एक टुकड़ा मुँह में रखकर भरा गिलास पानी पी गया, फिर खाने में लग गया। वह काफी छोटे-छोटे टुकड़े तोड़कर उन्हें धीरे-धीरे चबा रहा था।

सिद्धेश्वरी भय तथा आतंक से अपने बेटे को एकटक निहार रही थी। कुछ क्षण बीतने के बाद डरते-डरते उसने पूछा, "वहाँ कुछ हुआ क्या ?"

रामचन्द्र ने अपनी बड़ी-बड़ी भावहीन आँखों से अपनी माँ को देखा, फिर नीचा सिर करके कुछ रुखाई से बोला, "समय आने पर सब ठीक हो जायेगा।"

सिद्धेश्वरी चुप रही। धूप और तेज़ होती जा रही थी। छोटे आँगन के ऊपर आसमान में बादल के एक-दो टुकड़े पाल की नावों की तरह तैर रहे थे। बाहर की गली से गुजरते हुए एक खड़खड़िया इक्के की आवाज़ आ रही थी। और खटोले पर सोये बालक की साँस का खर-खर शब्द सुनायी दे रहा था।

रामचन्द्र ने अचानक चुप्पी को भंग करते हुए पूछा, "प्रमोद खा चुका ?"

सिद्धेश्वरी ने प्रमोद की ओर देखते हुए उदास स्वर में उत्तर दिया, "हाँ, खा चुका।"

"रोया तो नहीं था ?"

सिद्धेश्वरी फिर झूठ बोल गयी, "आज तो सचमुच नहीं रोया। वह बड़ा ही होशियार हो गया है। कहता था, बड़का भैया के यहाँ जाऊँगा। ऐसा

लड़का…"

पर वह आगे कुछ न बोल सकी, जैसे उसके गले में कुछ अटक गया। कल प्रमोद ने रेवड़ी खाने की जिद पकड़ ली थी और उसके लिए डेढ़ घण्टे तक रोने के बाद सोया था।

रामचन्द्र ने कुछ आश्चर्य के साथ अपनी माँ की ओर देखा और फिर सिर नीचा करके कुछ तेजी से खाने लगा।

थाली में जब रोटी का केवल एक टुकड़ा शेष रह गया, तो सिद्धेश्वरी ने उठने का उपक्रम करते हुए प्रश्न किया, "एक रोटी और लाती हूँ ?"

रामचन्द्र हाथ से मना करते हुए हड़बड़ाकर बोल पड़ा, "नहीं-नहीं, जरा भी नहीं। मेरा पेट पहले ही भर चुका है। मैं तो यह भी छोड़नेवाला हूँ। बस, अब नहीं।"

सिद्धेश्वरी ने जिद की, "अच्छा, आधी ही सही।"

रामचन्द्र बिगड़ उठा, "अधिक खिलाकर बीमार बना डालने की तबीयत है क्या ? तुम लोग जरा भी नहीं सोचते हो। बस, अपनी जिद। भूख रहती तो क्या ले नहीं लेता ?"

सिद्धेश्वरी जहाँ-की-तहाँ बैठी ही रह गयी। रामचन्द्र ने थाली में बचे टुकड़े से हाथ खींच लिया और लोटे की ओर देखते हुए कहा, "पानी लाओ।"

सिद्धेश्वरी लोटा लेकर पानी लेने चली गयी। रामचन्द्र ने कटोरे को उँगलियों से बजाया, फिर हाथ को थाली में रख दिया। एक-दो क्षण बाद रोटी के टुकड़े को धीरे से हाथ से उठाकर आँख से निहारा और अन्त में इधर-उधर देखने के बाद टुकड़े को मुँह में इस सरलता से रख लिया, जैसे वह भोजन का ग्रास न होकर पान का बीड़ा हो।

मँझला लड़का मोहन आते ही हाथ-पैर धोकर पीढ़े पर बैठ गया। वह कुछ साँवला था और उसकी आँखें छोटी थीं। उसके चेहरे पर चेचक के दाग थे। वह अपने भाई ही की तरह दुबला-पतला था, किन्तु उतना लम्बा न था। वह उम्र की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीर और उदास दिखायी पड़ रहा था।

सिद्धेश्वरी ने उसके सामने थाली रखते हुए प्रश्न किया, "कहाँ रह गये थे बेटा ? भैया पूछ रहा था।"

मोहन ने रोटी के एक बड़े ग्रास को निगलने की कोशिश करते हुए अस्वा-

दो रोटियाँ, भर कटोरा पनियाई दाल और चने की तली तरकारी।

रामचन्द्र ने रोटी के प्रथम टुकड़े को निगलते हुए पूछा, "मोहन कहाँ है ? बड़ी कड़ी धूप हो रही है।"

मोहन सिद्धेश्वरी का मँझला लड़का था। उम्र अठारह वर्ष थी और वह इस साल हाईस्कूल का प्राइवेट इम्तहान देने की तैयारी कर रहा था। वह न मालूम कब से घर से गायब था और सिद्धेश्वरी को स्वयं पता नहीं था कि वह कहाँ गया है।

किन्तु सच बोलने की उसकी तबीयत नहीं हुई और झूठ-मूठ कहा, "किसी लड़के के यहाँ पढ़ने गया है, आता ही होगा। दिमाग उसका बड़ा तेज है और उसकी तबीयत चौबीसों घण्टे पढ़ने में ही लगी रहती है। हमेशा उसी की बात करता रहता है।"

रामचन्द्र ने कुछ नहीं कहा। एक टुकड़ा मुँह में रखकर भरा गिलास पानी पी गया, फिर खाने में लग गया। वह काफी छोटे-छोटे टुकड़े तोड़कर उन्हें धीरे-धीरे चबा रहा था।

सिद्धेश्वरी भय तथा आतंक से अपने बेटे को एकटक निहार रही थी। कुछ क्षण बीतने के बाद डरते-डरते उसने पूछा, "वहाँ कुछ हुआ क्या ?"

रामचन्द्र ने अपनी बड़ी-बड़ी भावहीन आँखों से अपनी माँ को देखा, फिर नीचा सिर करके कुछ रुखाई से बोला, "समय आने पर सब ठीक हो जायेगा।"

सिद्धेश्वरी चुप रही। धूप और तेज़ होती जा रही थी। छोटे आँगन के ऊपर आसमान में बादल के एक-दो टुकड़े पाल की नावों की तरह तैर रहे थे। बाहर की गली से गुजरते हुए एक खड़खड़िया इक्के की आवाज़ आ रही थी। और खटोले पर सोये बालक की साँस का खर-खर शब्द सुनायी दे रहा था।

रामचन्द्र ने अचानक चुप्पी को भंग करते हुए पूछा, "प्रमोद खा चुका ?"

सिद्धेश्वरी ने प्रमोद की ओर देखते हुए उदास स्वर में उत्तर दिया, "हाँ, खा चुका।"

"रोया तो नहीं था ?"

सिद्धेश्वरी फिर झूठ बोल गयी, "आज तो सचमुच नहीं रोया। वह बड़ा ही होशियार हो गया है। कहता था, बड़का भैया के यहाँ जाऊँगा। ऐसा

लड़का···"

पर वह आगे कुछ न बोल सकी, जैसे उसके गले में कुछ अटक गया। कल प्रमोद ने रेवड़ी खाने की जिद पकड़ ली थी और उसके लिए डेढ़ घण्टे तक रोने के बाद सोया था।

रामचन्द्र ने कुछ आश्चर्य के साथ अपनी माँ की ओर देखा और फिर सिर नीचा करके कुछ तेजी से खाने लगा।

थाली में जब रोटी का केवल एक टुकड़ा शेष रह गया, तो सिद्धेश्वरी ने उठने का उपक्रम करते हुए प्रश्न किया, "एक रोटी और लाती हूँ ?"

रामचन्द्र हाथ से मना करते हुए हड़बड़ाकर बोल पड़ा, "नहीं-नहीं, जरा भी नहीं। मेरा पेट पहले ही भर चुका है। मैं तो यह भी छोड़नेवाला हूँ। बस, अब नहीं।"

सिद्धेश्वरी ने जिद की, "अच्छा, आधी ही सही।"

रामचन्द्र बिगड़ उठा, "अधिक खिलाकर बीमार बना डालने की तबीयत है क्या ? तुम लोग जरा भी नहीं सोचते हो। बस, अपनी जिद। भूख रहती तो क्या ले नहीं लेता ?"

सिद्धेश्वरी जहाँ-की-तहाँ बैठी ही रह गयी। रामचन्द्र ने थाली में बचे टुकड़े से हाथ खींच लिया और लोटे की ओर देखते हुए कहा, "पानी लाओ।"

सिद्धेश्वरी लोटा लेकर पानी लेने चली गयी। रामचन्द्र ने कटोरे को उँगलियों से बजाया, फिर हाथ को थाली में रख दिया। एक-दो क्षण बाद रोटी के टुकड़े को धीरे से हाथ से उठाकर आँख से निहारा और अन्त में इधर-उधर देखने के बाद टुकड़े को मुँह में इस सरलता से रख लिया, जैसे वह भोजन का ग्रास न होकर पान का बीड़ा हो।

मँझला लड़का मोहन आते ही हाथ-पैर धोकर पीढ़े पर बैठ गया। वह कुछ साँवला था और उसकी आँखें छोटी थीं। उसके चेहरे पर चेचक के दाग थे। वह अपने भाई ही की तरह दुबला-पतला था, किन्तु उतना लम्बा न था। वह उम्र की अपेक्षा कहीं अधिक गम्भीर और उदास दिखायी पड़ रहा था।

सिद्धेश्वरी ने उसके सामने थाली रखते हुए प्रश्न किया, "कहाँ रह गये थे बेटा ? भैया पूछ रहा था।"

मोहन ने रोटी के एक बड़े ग्रास को निगलने की कोशिश करते हुए अस्वा-

भाविक मोटे स्वर में जवाब दिया, "कहीं तो नहीं गया था। यहीं पर था।"

सिद्धेश्वरी वहीं बैठकर पंखा डुलाती हुई इस तरह बोली, जैसे स्वप्न में बड़ाबड़ा रही हो, "बड़का तुम्हारी बड़ी तारीफ कर रहा था। कह रहा था, मोहन बड़ा दिमागी होगा, उसकी तबीयत चौबीसों घण्टे पढ़ने में ही लगी रहती है।" यह कहकर उसने अपने मँझले लड़के की ओर इस तरह देखा, जैसे उसने कोई चोरी की हो।

मोहन अपनी माँ की ओर देखकर फीकी हँसी हँस पड़ा और फिर खाने में जुट गया। वह परोसी गयी दो रोटियों में से एक रोटी, कटोरे की तीन-चौथाई दाल तथा अधिकांश तरकारी साफ कर चुका था।

सिद्धेश्वरी की समझ में नहीं आया कि वह क्या करे। इन दोनों लड़कों से उसे बहुत डर लगता था। अचानक उसकी आँखें भर आयीं। वह दूसरी ओर देखने लगी।

थोड़ी देर बाद उसने मोहन की ओर मुँह फेरा, तो लड़का लगभग खाना समाप्त कर चुका था।

सिद्धेश्वरी ने चौंकते हुए पूछा, "एक रोटी देती हूँ ?"

मोहन ने रसोई की ओर रहस्यमय नेत्रों से देखा, फिर सुस्त स्वर में बोला, "नहीं।"

सिद्धेश्वरी ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, "नहीं बेटा, मेरी कसम, थोड़ी ही ले लो। तुम्हारे भैया ने एक रोटी ली थी।"

मोहन ने अपनी माँ को गौर से देखा, फिर धीरे-धीरे इस तरह उत्तर दिया, जैसे कोई शिक्षक अपने शिष्य को समझाता है, "नहीं रे, बस, अव्वल तो अब भूख नहीं। फिर रोटियाँ तूने ऐसी बनायी हैं कि खायी नहीं जातीं। न मालूम कैसी लग रही हैं। खैर, अगर तू चाहती ही है, तो कटोरे में थोड़ी दाल दे दे। दाल बड़ी अच्छी बनी है।"

सिद्धेश्वरी से कुछ कहते न बना और उसने कटोरे को दाल से भर दिया।

मोहन कटोरे को मुँह से लगाकर सुड़-सुड़ पी रहा था कि मुंशी चन्द्रिका प्रसाद जूतों को खस-खस घसीटते हुए आये और राम का नाम लेकर चौकी पर बैठ गये। सिद्धेश्वरी ने माथे पर साड़ी को कुछ नीचे खिसका लिया और मोहन

दाल को एक साँस में पीकर तथा पानी के लोटे को हाथ में लेकर तेजी से बाहर चला गया।

दो रोटियाँ, कटोरा-भर दाल, चने की तली तरकारी। मुंशी चन्द्रिका प्रसाद पीढ़े पर पालथी मारकर बैठे रोटी के एक-एक ग्रास को इस तरह चुभला-चबा रहे थे, जैसे बूढ़ी गाय जुगाली करती है। उनकी उम्र पैंतालीस वर्ष के लगभग थी, किन्तु पचास-पचपन के लगते थे। शरीर का चमड़ा झूलने लगा था, गंजी खोपड़ी आईने की भाँति चमक रही थी। गन्दी धोती के ऊपर अपेक्षाकृत कुछ साफ बनियान तार-तार लटक रही थी।

मुंशीजी ने कटोरे को हाथ में लेकर दाल को थोड़ा सुड़कते हुए पूछा, "बड़का दिखायी नहीं दे रहा ?"

सिद्धेश्वरी की समझ में नहीं आ रहा था कि उसके दिल में क्या हो गया है—जैसे कुछ काट रहा हो। पंखे को जरा और जोर से घुमाती हुई बोली, "अभी-अभी खाकर काम पर गया है। कह रहा था, कुछ दिनों में नौकरी लग जायेगी। हमेशा 'बाबूजी बाबूजी' किये रहता है। बोला—बाबूजी देवता के समान है।"

मुंशीजी के चेहरे पर कुछ चमक आयी। शरमाते हुए पूछा, "ऐं, क्या कहता था कि बाबूजी देवता के समान हैं ? बड़ा पागल है।"

सिद्धेश्वरी पर जैसे नशा चढ़ गया था। उन्माद की रोगिणी की भाँति बड़बड़ाने लगी, "पागल नहीं है, बड़ा होशियार है। उस जमाने का कोई महात्मा है। मोहन तो उसकी बड़ी इज्जत करता है। आज कह रहा था कि भैया की शहर में बड़ी इज्जत होती है, पढ़ने-लिखनेवालों में बड़ा आदर होता है और बड़का तो छोटे भाइयों पर जान देता है। दुनिया में वह सबकुछ सह सकता है, पर यह नहीं देख सकता कि उसके प्रमोद को कुछ हो जाये।"

मुंशीजी दाल-लगे हाथ को चाट रहे थे। उन्होंने सामने की ताक की ओर देखते हुए कुछ हँसकर कहा, "बड़का का दिमाग तो खैर काफी तेज है, वैसे लड़कपन में नटखट भी था। हमेशा खेल-कूद में लगा रहता था, लेकिन यह भी बात थी कि जो सबक मैं उसे याद करने को देता था, उसे बर्राक रखता था। असल तो यह है कि तीनों लड़के काफी होशियार हैं। प्रमोद को कम समझती हो ?" यह कहकर वह अचानक जोर से हँस पड़े।

मुंशीजी डेढ़ रोटी खा चुकने के बाद एक ग्रास से युद्ध कर रहे थे। कठिनाई होने पर एक गिलास पानी चढ़ा गये। फिर खर-खर खाँसकर खाने लगे।

फिर चुप्पी छा गयी। दूर से किसी आटे की चक्की की पुक-पुक आवाज सुनायी दे रही थी और पास के नीम के पेड़ पर बैठा कोई पंडूक लगातार बोल रहा था।

सिद्धेश्वरी की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहे। वह चाहती थी कि सभी चीज़ें ठीक से पूछ ले। सभी चीज़ें ठीक से जान ले और दुनिया की हर चीज़ पर पहले की तरह धड़ल्ले से बात करे। पर उसकी हिम्मत नहीं होती थी। उसके दिल में न जाने कैसा भय समाया हुआ था।

अब मुंशीजी इस तरह चुपचाप दुबके हुए खा रहे थे, जैसे पिछले दो दिनों से मौन-व्रत धारण कर रखा हो और उसको कहीं जाकर आज शाम को तोड़नेवाले हों।

सिद्धेश्वरी से जैसे नहीं रहा गया। बोली, "मालूम होता है, अब बारिश नहीं होगी।"

मुंशीजी ने एक क्षण के लिए इधर-उधर देखा, फिर निर्विकार स्वर में राय दी, "मक्खियाँ बहुत हो गयी हैं।"

सिद्धेश्वरी ने उत्सुकता प्रकट की, "फूफाजी बीमार हैं, कोई समाचार नहीं आया।"

मुंशीजी ने चने के दानों की ओर इस दिलचस्पी से दृष्टिपात किया, जैसे उनसे बातचीत करनेवाले हों, फिर सूचना दी, "गंगाशरण बाबू की लड़की की शादी तय हो गयी। लड़का एम० ए० पास है।"

सिद्धेश्वरी हठात् चुप हो गयी। मुंशीजी भी आगे कुछ नहीं बोले। उनका खाना समाप्त हो गया था और वे थाली में बचे-खुचे दानों को बन्दर की तरह बीन रहे थे।

सिद्धेश्वरी ने पूछा, "बड़का की कसम, एक रोटी देती हूँ। अभी बहुत-सी हैं।"

मुंशीजी ने पत्नी की ओर अपराधी के समान तथा रसोई की ओर कनखी से देखा, तत्पश्चात् किसी छँटे उस्ताद की भाँति बोले, "रोटी? रहने दो, पेट काफी भर चुका है। अन्न और नमकीन चीज़ों से तबीयत ऊब भी गयी

है। तुमने व्यर्थ में कसम धरा दी। खैर, कसम रखने के लिए ले रहा हूँ। गुड़ होगा क्या ?"

सिद्धेश्वरी ने बताया कि हण्डिया में थोड़ा-सा गुड़ है।

मुंशी जी ने उत्साह के साथ कहा, "तो थोड़े गुड़ का ठण्डा रस बनाओ, पीऊँगा। तुम्हारी कसम भी रह जायेगी, जायका भी बदल जायेगा, साथ-ही-साथ हाजमा भी दुरुस्त होगा। हाँ, रोटी खाते-खाते नाक में दम आ गया है।" यह कहकर वे ठहाका मारकर हँस पड़े।

मुंशीजी के निबटने के पश्चात् सिद्धेश्वरी उनकी जूठी थाली लेकर चौके की जमीन पर बैठ गयी। बटलोई की दाल को कटोरे में उड़ेल दिया, पर वह पूरा भरा नहीं। छिपुली में थोड़ी-सी चने की तरकारी बची थी, उसे पास खींच लिया। रोटियों की थाली को भी उसने पास खींच लिया। उसमें केवल एक रोटी बची थी। मोटी, भद्दी और जली उस रोटी को वह जूठी थाली में रखने जा रही थी कि अचानक उसका ध्यान ओसारे में सोये प्रमोद की ओर आकर्षित हो गया। उसने लड़के को कुछ देर तक एकटक देखा, फिर रोटी को दो बराबर टुकड़ों में विभाजित कर दिया। एक टुकड़े को तो अलग रख दिया और दूसरे टुकड़े को अपनी जूठी थाली में रख लिया। तदुपरान्त एक लोटा पानी लेकर खाने बैठ गयी। उसने पहला ग्रास मुँह में रखा और तब न मालूम कहाँ से उसकी आँखों से टपटप आँसू चूने लगे।

सारा घर मक्खियों से भनभन कर रहा था। आँगन की अलगनी पर एक गन्दी साड़ी टँगी थी, जिसमें पैबन्द लगे हुए थे। दोनों बड़े लड़कों का कहीं पता नहीं था। बाहर की कोठरी में मुंशीजी औंधे मुँह होकर निश्चिन्तता के साथ सो रहे थे, जैसे डेढ़ महीने पूर्व मकान-किराया-नियन्त्रण विभाग की क्लर्की से उनकी छँटनी न हुई हो और शाम को उनको काम की तलाश में कहीं जाना न हो...।

सेब

●

रघुवीर सहाय

चलती सड़क के किनारे एक विशेष प्रकार का जो एकान्त होता है, उसमें मैंने एक लड़की को किसी की प्रतीक्षा करते पाया। उसकी आँखें सड़क के पार किसी की गतिविधि को पिछुआ रही थीं और आँखों के साथ, कसे हुए ओठों और नुकीली ठुड्डीवाला उसका छोटा-सा साँवला चेहरा भी इधर से उधर डोलता था। पहले तो मुझे यह बड़ा मजेदार लगा, पर अचानक मुझे उसके हाथ में एक छोटा-सा लाल सेब दिखायी पड़ गया और मैं एकदम हक् से वहीं खड़ा रह गया।

वह एक टूटी-फूटी परेम्बुलेटर में सीधी बैठी हुई थी, जैसे कुर्सी में बैठते हैं, और उसके पतले दोनों हाथ घुटनों पर रक्खे हुए थे। वह कमीज-पैजामा पहने थी, कुछ ऐसा छरहरा उसका शरीर था और कुछ ऐसी लड़कौधी उसकी उम्र थी कि मैं सोच में पड़ गया कि यह लड़का है या लड़की। लड़की होती तो उस पर दो पतली-पतली चोटियाँ बहुत खिलतीं : यहाँ वह झबरी थी। पर तुरन्त मेरे मन ने मुझे टोका—भला यह भी कोई सोचने की बात है, क्योंकि उस बच्ची में कहीं कोई ऐसा दर्द था, जो मुझे फालतू बातें सोचने से रोकता था।

यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि मैं पास जाकर बड़ी शराफत से पूछता, "क्या बात है बेटी, तू इतनी घबरायी हुई क्यों है ? तुझे यहाँ कौन छोड़कर चला गया है ?" पर वह न उतनी घबरायी हुई थी और न उसे वहाँ कोई छोड़कर चला गया था—क्योंकि उसके चेहरे पर एक गहरी आशा की दृढ़ता थी, यद्यपि वह आशा इसी बात की थी कि उसका बाप अभी आ जायेगा। इसलिए मैंने पूछा

नहीं, पर थोड़ा और पास आकर उसे देखता रहा। मुझे डर था कि प्रैम को हाथ लगाते ही वह रो पड़ेगी, लेकिन एक बार मन हुआ कि उसे जरा-सा और पीछे हटाकर फुटपाथ पार करा दूँ। डीज़ल इंजनवाली भौंड़ी बसों की दहशत मेरे दिल में बचपन से बैठी हुई है। पर यह सोचकर रुक गया कि हालाँकि कोई ड्राइवर कम कुशल होता है कोई ज्यादा और कोई अपनी बीबी को पीटता है कोई नहीं, पर ऐसा कोई नहीं होगा जो उसे बचाकर नहीं निकल जायेगा।

लड़की ने एक बार मुझे बड़ी घृणा से देखा, फिर अपने बाप को देखने लगी। वह सड़क के पार जमीन पर कोई चीज ढूँढ़ रहा था। मुझे देखकर वह शायद मन में हँसना चाहती थी कि आप यहाँ खड़े क्यों संवेदना लुटा रहे हैं। पर वह बहुत कमजोर थी और उसके चेहरे पर भाव एक अजीब लक्षण के साथ आते थे जैसे कमजोर व्यक्तियों के आते हैं और इसलिए उसका चेहरा और सख्त हो गया। अब सोचता हूँ कि उसने अपना ध्यान तुरन्त मुझ पर से हटा-कर खोयी हुई चीज के मिल जाने पर लगा दिया होगा।

यह स्वाभाविक ही था कि मैं अपमानित अनुभव करता कि मैं तो—जैसा कि मुझे बचपन से सिखाया गया है दुखी जनों के प्रति आर्द्र होना—उस पर तरस खा रहा हूँ, और वह मेरी अनदेखी कर रही है, परन्तु मुझे इसमें कोई अपमान नहीं मालूम हुआ, क्योंकि मुझे उसका स्वाभिमान अच्छा लगा। इस बार मैंने गौर किया तो देखा कि वह बहुत मैले कपड़े पहने थी। कमीज के कालर पर मैल की लहरदार धारियाँ थीं, मगर चेहरा साफ था, जैसे उसका बाप लड़की को मुँह धुलाकर बाहर ले गया हो। लगता था जैसे धुलकर उसका मुँह और भी निकल आया है। कमीज पर उसने स्वेटर पहन रक्खा था, जो चिपककर बैठता था, पूरी बाँह की कमीज थी, कफ के बटन बाकायदा लगे हुए थे और इस बार मैंने गौर किया तो दिखा कि कलाइयों में बहुत-सी नयी चूड़ियाँ थीं।

मैंने सोचा, संसार में कितना कष्ट है। और मैं कर ही क्या सकता हूँ सिवाय समवेदना देने के। इस गरीब की यह लड़की बीमार है, ऊपर से कुछ पैसे जो अस्पताल की फीस से बचाकर ला रहा होगा कि उन्हीं से घर का काम चलेगा, यहाँ गिर गये, किसी गाड़ी से टक्कर खा गया होगा। वह तो कहिए कोई चोट नहीं आयी, वरना बीमार लड़की लावारिस यहाँ पड़ी रहती, कोई

पूछने भी न आता कि क्या हुआ। मैंने सचमुच उसके बाप को वहीं से आवाज दी, "क्या ढूँढ़ रहे हो ? क्या खो गया है ?"

उसने वहीं से जवाब दिया, "कुछ नहीं, गाड़ी की एक ढिबरी गिर गयी है।"

उसकी खोज खतम हो गयी थी। वह बिना ढिबरी के इधर चला आया। उसके साथ मैंने परेम्बुलेटर के नीचे झाँककर देखा, जहाँ गाड़ी की वाडी और धुरी का जोड़ होता है, जहाँ धुरी हिलती रहती है, वहाँ का एक बोल्ट बिना नट के था।

मैंने सोचा, बस ! मगर इसे ही काफी अफसोस की बात होनी चाहिए, क्योंकि एक तो गाड़ी वैसे ही ढचरमचर हो रही थी ऊपर से इस नट के गिर जाने से वह बिल्कुल ठप हो जायेगी। क्या कहावत है वह—गरीबी में आटा गीला—कितना दर्द है इस कहावत में, और कितनी सीधी चोट है। आटा जरूरत से ज्यादा गीला हो गया और अब दुखिया गृहिणी परात लिये बैठी है। उसे सुखाने को आटा नहीं है। यानी आटा है, मगर रोटियाँ नहीं पक सकतीं।

मैंने अपनी तार्किक चतुराई दिखायी, पूछा, "मगर ढिबरी कहाँ थी ? क्या तुमको ठीक मालूम है, यहीं गिरी थी ?"

लड़की की मरी-मरी आवाज आयी, "गिरी तो यहीं थी, अभी मुझे दिखायी पड़ रही थी, अभी एक मोटर आयी उससे वह छिटककर उधर चली गयी।"

मोटर के गुदगुदे पहिये से छोटा-सा नट छिटककर कहाँ जाता, पर वह लड़की अपने स्वास्थ्य से दुखी थी, इससे उसका यह गलत अनुमान मैंने क्षमा कर दिया और सड़क के पार गया। उसी जगह मैंने भी ढिबरी को खोजा।

जब खाली हाथ मैं लौटकर आया तो बाप ने कहीं से एक छोटा-सा तार का टुकड़ा खोज निकाला था और बड़ी दक्षता से बोल्ट के छेद में बैठा रहा था और उसे बाँधने की कोशिश कर रहा था। गाड़ी को उसने जरा-सा हुमासा तो लड़की न जाने क्यों खिसिया गयी, पर जैसा कि मैंने पहले बताया, उसके चहरे पर भाव वैसे नहीं आ सकते थे, जैसे तन्दुरुस्त बच्चों के आते हैं, इसलिए उसने जल्दी से अपने बाप का कन्धा पकड़ लिया और नीचे झाँकने लगी, जैसे अपनी गाड़ी ठीक करने में मदद देना चाहती हो।

मैंने पूछा, "अब कैसे जाओगे ? ऐसे तो यह ठीक न होगी ?"

बाप का मुँह दाढ़ी-भरा था और जबड़ा चौड़ा था। उसने गाड़ी के नीचे मुँह डाले-डाले खुरदरी आवाज जवाब दिया, "चले जायेंगे।" और लड़की से कहा, "बेटे, तू तनिक उतर तो आ ?"

बेटी ने बाप के कन्धे पर एक हाथ रक्खा, एक से अपने सेब को कसकर पकड़े रही और नीचे उतरकर गाड़ी से कुछ दूर हटकर खड़ी हो गयी। मैं बहुत द्रवित हो उठा। बिचारी बीमार है : इसे शायद सूखा हो गया है या तपेदिक। इससे कम इसे कोई बीमारी होनी नहीं चाहिए, और वह खड़ी भी नहीं रह पायेगी, काँपती रहेगी : कहीं गिर न पड़े। हे भगवान, जल्दी से बोल्ट में तार बँध जाये।

मगर लड़की सीधी खड़ी रही। सिर्फ एक बार उसने नाक सिड़की। बीच-बीच में अपने नंगे पैरों को देखकर पंजे सिकोड़ती रही और अधीरता से गाड़ी की धुरी को देखती रही। यह तो स्पष्ट था ही कि वह अपने बाप की कारीगरी से बहुत प्रभावित हो उठी है। वह बहुत दुबली थी, छड़ी-सी और साँवली थी, एक नये प्रकार का सौन्दर्य उसमें था, वह जो कष्ट उठाने से आता है। पर फिर मेरे मन ने मुझे फालतू बातें करने से रोक दिया।

मैंने पूछा, "यह बीमार है ?"

बाप ने लड़की को पुकारा, "आ बेटे, बैठ जा, ठीक हो गयी।"

धीरे-धीरे चलकर अपने ढीले पैजामे को समेटकर लड़की परेम्बुलेटर में चढ़ रही थी, तभी मुझे गाड़ी के पेंदे में एक छोटी-सी ढिबरी पड़ी दिख गयी। झट उसे उठाकर मैंने बाप को दिया, "यह कैसी है, इससे काम नहीं चलेगा ?"

"ओ नहीं जी, ये तो बहुत छोटी है। वो तो मैंने बना लिया जी।"

मैं अपनी करुणा से परेशान था। फिर मैंने पूछा, "इसे क्या हुआ है ?" और उसके दुखी उत्तर के लिए तैयार हो गया। मैंने सोचा था कि जब वह कहेगा, साहब मर्ज तो कुछ समझ में नहीं आता किसी के, तो डाक्टर हुक्कू का नाम सुझाऊँगा।

बाप हँसकर बोला, " अब तो ठीक है यह, इसे मोतीझाला हुआ था बहुत दिन हुए, तब से बहुत कमजोर हो गयी है। सुइयाँ लगतीं हैं इसे।"

गाड़ी चूँ-चूँ करके चलने लगी थी। अब लौंडिया को शरम लगने लगी कि इतनी बड़ी होकर प्रैम में बैठी है।

"कहाँ रहते हो ?"

"यही सरकण्डा बाजार में।" और अपनी माँसल बाँह उठाकर उसने सरकण्डा बाजार को इंगित किया, जो सामने धूप में चमकता दिख रहा था।

मुझे कुछ न सूझा तो पूछा, "वहाँ से रोज यहाँ तक आते हो ? तब तो बड़ी तकलीफ उठाते हो।"

वह हँसा तो नहीं, पर ऐसे मुस्कराया जैसे कह रहा हो कि अपनी करुणा का श्रेय लेना चाहते हो तो हमारी व्यथा को क्यों अतिरंजित कर रहे हो। मैंने यह भी पूछा था, "सुइयों में तो बड़ा खरचा होता होगा ?"

वैसे ही उत्तर आया, "कोई छब्बीस लगवा चुका हूँ, अभी कोई खास फायदा नहीं है। धीरे-धीरे होगा। ३ रु० ६ आना की एक लगती है।"

अब भी मैं और कुछ पूछना चाहता था, क्योंकि मेरा मन कह रहा था कि मेरा काम अभी खतम नहीं हुआ। मगर मैं यह भी देख रहा था कि उस लड़की की व्यथा कितनी सादी थी, मामूली थी, कोई खास बात थी ही नहीं। मैं संवेदना दे सकता था तो अधिक-से-अधिक देना चाहता था, इसलिए मेरे मुँह से निकला, "घबराओ नहीं, ठीक हो जायेगी लड़की।" अब, सोचता हूँ कि बजाय इसके अगर मैं पूछता, आज कौन-सा दिन है, तो कोई फर्क न पड़ता।

बाप ने मानो मुझे सुना ही नहीं। लड़की ने अपने सेब की तरफ देखा, पूछा, "बप्पा ?" बाप ने बड़े प्यार से मना कर दिया।

बीमार लड़की धैर्य से अपने सेब को पकड़े रही। उसने खाने के लिए जिद नहीं की। चमकती हुई काली-सफेद चूड़ियों से उसकी कलाइयाँ खूब ढकी हुई थीं। मुट्ठी में वह लाल चिकना छोटा-सा सेब था, जो उसे बीमार होने के कारण नसीब हो गया था और इस वक्त उसके निढाल शरीर पर खूब खिल रहा था।

मैं जल्दी-जल्दी चलकर आगे निकल आया। अब मैं वहाँ बिल्कुल फालतू था।

पहाड़

●

निर्मल वर्मा

—क्या इस बार हम पहाड़ों पर जायेंगे ?

हर रात सोने से पहले वह एक ही प्रश्न पूछता था। माँ की आँखें खिड़की के बाहर अँधेरे पर टिक जातीं। पिता की पेंसिल (वे आर्किटेक्ट थे) कागज़ पर घूमती हुई क्षण-भर के लिए एक जगह ठिठककर···फिर घूमने लगती।

दोनों ही शुरू में अनिश्चित थे। हर पतझड़ के संग पूरा एक बरस निकल जाता। समय के बीतने के संग वह बड़ा होता गया था। पिता अभी युवा थे और माँ···वह अब भी अपने पति को चाहती थी।

मुझे सुखी दम्पती देखने अच्छे लगते हैं और जब वे एक-दूसरे को चाहते भी हों, तो वह एक रहस्यमय चमत्कार-सा लगता है।

दोनों की पुरानी स्मृतियाँ थीं—और ऐसी नहीं कि एक की अलग हो और दूसरे की अलग, बल्कि एक-दूसरे पर टिकी हुईं···ताश के घर की तरह, जिसमें एक पत्ता दूसरे से जुड़कर ही खड़ा रह पाता है।

समय के संग एक-एक पत्ता जुड़ता गया था और अब वे एक-दूसरे के संग इस तरह घुल-मिल गये थे कि यह कहना मुश्किल था कि कौन-सा पत्ता किसका है, या शुरू में किसका था। फिर वह बच्चा भी था।

अक्सर होता यह है कि बच्चे के आने पर पति-पत्नी अनायास एक-दूसरे के प्रति कुछ थोड़ा-सा विरक्त हो जाते हैं, चाहते हैं एक-दूसरे को, लेकिन बच्चे के माध्यम से···और यह शुरुआत होती है, अन्त होने की।

किन्तु इस दम्पती के संग ऐसा कुछ नहीं हुआ। वह बड़ा होता गया था

—दोनों के बीच नहीं—बल्कि अपने में अलग। जब वे उसकी ओर देखते तो उन्हें हल्का-सा आश्चर्य होता। उसका चेहरा एल्बम में लगी पुरानी फोटो-सा जान पड़ता, जब वे खुद बहुत छोटे थे और एक-दूसरे को नहीं जानते थे। उन्हें यह चीज़ बहुत विस्मयकारी-सी जान पड़ती कि कभी ऐसा समय भी रहा होगा जब उनकी स्मृतियाँ एक-दूसरे को लेकर नहीं बनी थीं···और वे एक-दूसरे से पृथक् अपने में अलग-अलग जी रहे थे। उन्हें यह असम्भव लगता और वे इस पर अधिक ध्यान नहीं देते थे। उन्हें उन स्मृतियों से ही सन्तोष था, जो उनकी अपनी थीं···उनके बाहर जो कुछ था, वह बाहर था, उसमें झाँकने की उनमें कोई लालसा नहीं थी।

इन स्मृतियों में एक ख़ास जगह बना ली थी—पहाड़ों ने!

हर रात सोने से पहले बच्चा उनसे पूछता था—क्या इस साल हम वहाँ जायेंगे?

वे उसे समझाने की कोशिश करते और बच्चे की आँखें विस्मय से खुली रहतीं।

ऐसे ही एक के बाद एक वर्ष गुज़रता गया था। फिर एक साल अक्तूबर के महीने में जब पत्ते झरने लगते हैं···वे यहाँ आये थे। दोनों को यह पहाड़ी स्टेशन बहुत प्रिय था। विवाह के बाद कुछ दिनों के लिए वे यहाँ आये थे···रिज की बेंच, लोअर बाज़ार जानेवाली पगडण्डी, पुराने चर्चयार्ड का कोना, जहाँ वे अक्सर बैठते थे···होटल पुराना परिचित था, उन दिनों बहुत-से कमरे खाली पड़े थे, शायद पतझड़ के कारण बहुत कम टूरिस्ट वहाँ आये थे। सौभाग्यवश उन्हें वह कमरा भी मिल गया था, जहाँ अरसा पहले उन्होंने अपनी सुखद रातें एकसाथ गुज़ारी थीं।

यात्रा की थकान के कारण वे उस दिन होटल के कमरे में ही रहे थे। बच्चा सोता रहा था। दोनों बेसुध-से लेटे रहे थे—एक-दूसरे की बाँहों में। पति बार-बार उसके होंठों, उसकी आँखों, उसके बालों को चूमता हुआ कहता था—आखिर हम आ गये हैं।

बाहर पतझड़ का हरा आलोक था और भुरभुराये पत्तों की बोझिल गन्ध, जो हवा में ठहर गयी थी।

बच्चा, जो जाग गया था, चुपचाप अपने माता-पिता को देख रहा था।

उसकी आँखें बहुत बड़ी और गहरी थीं और जैसा कि कुछ बच्चों में होता है—उन आँखों का समूची देह से कोई सम्बन्ध नहीं जान पड़ता था।

—तुम जाग गये ?—माँ ने पास आकर उसके माथे पर हाथ रख दिया…और वह अपलक देख रहा था जैसे उसकी माँ एक गुड़िया हो।

—क्या आज हम जायेंगे ?—उसने शान्त स्वर में पूछा।

—कहाँ ?

—पहाड़ों पर।

—पागल ! हम आ तो गये। तुमने बाहर देखा नहीं…वे यहाँ हर जगह हैं।

बच्चा गुमसुम-सा बारी-बारी अपने माता-पिता को देखता रहा।

—आज शाम ऊपर रिज की तरफ़ जायेंगे, वहाँ से तुम उन्हें देख सकोगे।

अँधेरा होने से पहले वे ऊपर चढ़े थे। बच्चे ने गोद में आने से इन्कार कर दिया था। वह उनके संग पैदल ही चल रहा था।

तीनों ने एक-दूसरे का हाथ पकड़ रखा था। शुरू जाड़े के हल्के बादल थे और वे बहुत सफ़ेद थे…समूचे पहाड़ी शहर पर एक पीली-सी छाया उतर आयी थी। आखिरी धूप के धब्बे चीड़ की सुइयों पर लिपट गये थे…सोने के छल्लों-से…और हवा ख़ामोश थी।

—क्या हम आ गये ?

उत्तर में माँ ने बच्चे की ओर देखा और हँस दी।

माल रोड पार करने के बाद लाइब्रेरी आयी, जो चर्च के सामने थी। लाइब्रेरी की लम्बी खिड़कियों पर पत्तों की बेल झूल रही थी। जब कभी हवा का हल्का-सा झोंका आता, उनकी छाया किरोशिए से काढ़े गये बेल-बूटों-सी दीवार पर डोल जाती…सब वैसा ही था। कुछ भी नहीं बदला।

—क्या हम आ गये ?—इस बार कोशिश के बावजूद बच्चा अपनी उत्तेजना नहीं दबा सका। इतनी चढ़ाई पैदल पार करने के बाद उसकी आँखें ज्वर-ग्रस्त हो आयी थीं।

—क्या तुम देखते नहीं—पिता ने कहा—उधर वे क्या हैं ?—बच्चे की आँखें पिता की उँगली की दिशा में उठ गयीं।

बीच में नीले जंगलों के झुरमुट थे…और उनके परे बादलों की सुरमई

रेखा। मौसम असाधारण रूप से साफ़ था। हवा के आर-पार पारदर्शी धूप थी ···चाकू की धार-सी पैनी—बीच के कोनों, हाशियों को तराशती हुई···और उनके ऊपर दूर···वे खड़े थे, नंगी बर्फ में लिपटे हुए ख़ामोश और ख़ुद अपनी ख़ामोशी से आतंकित···

बच्चे की ज्वर-ग्रस्त आँखें असाधारण रूप से चमकने लगी थीं।

—क्या हम वहाँ जायेंगे ?

इस पर माँ नहीं हँस सकी। उसके छोटे-से स्वर में एक अजीब परायापन-सा था, जिसे दोनों ने पहचान लिया था।

—तुम कैसे हो···हमें यहीं तो आना था—पिता ने कहा। उनके स्वर में दबी-सी झुँझलाहट थी। फिर उन्हें अपनी ही झुँझलाहट पर शर्म-सी हो आयी और दूसरी ओर देखने लगे।

—हाँ···हमें यहीं तक आना था !—माँ ने कहा, जैसे वह सोती हुई बोल रही हो।

यहीं तक···आगे पहाड़ियाँ थीं, धूप की सुनहरी आभा में रँगी हुईं, चुप और स्तब्ध थीं।

चारों ओर था रिज का समतल मैदान और पुराना चर्च···खिड़कियों के स्टेन-ग्लास पर एक तिरछी किरण आ लेटी थी···और दूर से लगता था जैसे वह टूटे काँच की दरार हो, जो सिर्फ भ्रम था और कुछ नहीं।

—तुम्हें सर्दी तो नहीं लग रही ?—पति ने पूछा।

—नहीं, मैं ठीक हूँ।—वह क्षण-भर के लिए काँप गयी थी और पति ने उसे देख लिया था !

वे रिज के एक कोने में खड़े थे। सामने हवाघर की बेंचें थीं और उनके परे लकड़ी का जँगला था। नीचे घास की ढलान थी, जहाँ इक्के-दुक्के जुगनू चमक जाते थे। सामने बेंच थी। वह खाली थी और उस पर धीरे-धीरे धूल और धूल में सने पत्ते इकट्ठा होते गये थे। वह बहुत साधारण थी और कोई भी नहीं कह सकता था कि कभी कोई उस पर बैठा होगा। लगता था, मुद्दत से वह ऐसे ही खाली पड़ी है।

कुछ देर तक वे उसे देखते रहे, मानो किसी बहुत पुरानी चीज को पहचान पाने की चेष्टा कर रहे हों···और न जाने क्यों, चाहने पर भी वे उस क्षण

एक-दूसरे को छूने का साहस नहीं कर पाये ।

बच्चा बेंच पर सिर टिकाये सो गया था । सामने पहाड़ियाँ थीं, जो धीरे-धीरे पतझड़ के नरम और चमकीले अन्धकार में डूबने लगी थीं ।

पति ने उसके कन्धे पर हाथ रखा । वह सिहर-सी गयी और उसने धीरे से उसका हाथ अलग कर दिया ।

—क्या बात है ?—पति ने तनिक सशंकित स्वर में पूछा ।

—मुझे लगता है, हमें इसे यहाँ नहीं लाना चाहिए था ।—उसने बच्चे की ओर देखा और फिर सहसा उसकी आँखें अँधेरे के उस सुदूर धब्बे पर उठ गयीं, जहाँ कुछ देर पहले पहाड़ थे और अब कुछ भी नहीं···

—हमें इसे यहाँ नहीं लाना था ।—उसने कहा ।

—अरे कुछ भी नहीं । वापस होटल जाने पर यह सबकुछ भूल जायेगा···।

—हाँ···सब कुछ !—पत्नी ने कहा किन्तु पति ने उसका स्वर नहीं सुना । वह बहुत धीमा रहा होगा । उसका ध्यान भटक गया था और वह अपने होटल के कमरे के बारे में सोचने लगा था, जहाँ बरसों पहले उन दोनों ने कुछ बहुत सुखद रातें गुजारी थीं । अचानक उसका मन उल्लसित-सा हो आया—देखो, बदला कुछ भी नहीं ।

···और वह जैसे आधी नींद से जाग उठी हो—हाँ, कुछ भी नहीं ।—उसने कहा ।

पति ने उसकी ओर देखा—तुम्हें सर्दी तो नहीं लग रही ?

—नहीं···मैं ठीक हूँ ।

—पति ने आश्वस्त होकर लम्बी साँस ली और उसे पास खींचकर धीरे से चूम लिया ।

मुझे सुखी दम्पती देखने अच्छे लगते हैं और जब वे एक-दूसरे को चाहते भी हों तो वह एक रहस्यमय चमत्कार-सा लगता है ।

दिल्ली में एक मौत

●

कमलेश्वर

चारों तरफ कुहरा छाया हुग्रा है। सुबह के नौ बज चुके हैं, लेकिन पूरी दिल्ली धुन्ध में लिपटी हुई है। सड़कें नम हैं। पेड़ भीगे हुए हैं। कुछ भी साफ नहीं दिखायी देता। ज़िन्दगी की हलचल का पता ग्रावाज़ों से लग रहा है। ये ग्रावाज़ें कानों में बस गयी हैं। घर के हर हिस्से से ग्रावाज़ें ग्रा रही हैं। वासवानी के नौकर ने रोज़ की तरह स्टोव जला लिया है, उसकी सनसनाहट दीवार के उस पार से ग्रा रही है। बगलवाले कमरे में ग्रतुल मवानी जूते पर पालिश कर रहा है—ऊपर सरदारजी मूँछों पर फिक्सो लगा रहे हैं—उनकी खिड़की के परदे के पार जलता हुग्रा बल्ब बड़े मोती की तरह चमक रहा है। सब दरवाज़े बन्द हैं, सब खिड़कियों पर परदे हैं, लेकिन हर हिस्से में ज़िन्दगी की खनक है। तिमंजिले पर वासवानी ने बाथरूम का दरवाजा बन्द किया है ग्रौर पाइप खोल दिया है।

कुहरे में बसें दौड़ रही हैं। जूँ-जूँ करते भारी टायरों की ग्रावाज़ें दूर से नजदीक ग्राती हैं ग्रौर फिर दूर हो जाती हैं। मोटर-रिक्शे बेतहाशा भागे चले जा रहे हैं। टैक्सी का मीटर ग्रभी किसी ने डाऊन किया है। पड़ोस के डाक्टर के यहाँ फोन की घण्टी बज रही है ग्रौर पिछवाड़े गली से गुज़रती हुई कुछ लड़कियाँ सुबह ही शिफ्ट पर जा रही हैं।

सख्त सर्दी है। सड़कें ठिठुरी हुई हैं ग्रौर कोहरे के बादलों को चीरती हुई कारें ग्रौर बसें हार्न बजाती हुई भाग रही हैं। सड़कों ग्रौर पटरियों पर भीड़ है, पर कुहरे में लिपटा हुग्रा हर ग्रादमी भटकती हुई रूह की तरह लग रहा है।

वे रूहें चुपचाप धुन्ध के समुद्र में बढ़ती जा रही हैं—बसों में भीड़ है। लोग ठण्डी सीटों पर सिकुड़े बैठे हैं और कुछ लोग बीच में ही ईसा की तरह सलीब पर लटके हुए हैं—बाँहें पसारे, उनकी हथेलियों में कीलें नहीं, बस की बर्फ़ीली, चमकदार छड़ें हैं।

और ऐसे में दूर से एक अरथी सड़क पर चली आ रही है।

इस अरथी की खबर अखबार में है। मैंने अभी-अभी पढ़ी है। इसी मौत की खबर होगी। अखबार में छपा है—आज रात करौलबाग के मशहूर और लोकप्रिय बिज़नेस मैगनेट सेठ दीवानचन्द की मौत इरविन अस्पताल में हो गयी। उनका शव कोठी पर ले आया गया है। कल सुबह नौ बजे उनकी अरथी आर्यसमाज रोड से होती हुई पँचकुइयाँ श्मशान-भूमि में दाह-संस्कार के लिए जायेगी।—

और इस वक्त सड़क पर आती हुई यह अरथी उन्हीं की होगी। कुछ लोग टोपियाँ लगाये और मफलर बाँधे खामोशी से पीछे-पीछे आ रहे हैं। उनकी चाल बहुत धीमी है। कुछ दिखायी पड़ रहा है, कुछ नहीं दिखायी पड़ रहा है, पर मुझे ऐसा लगता है कि अरथी के पीछे कुछ आदमी हैं।

मेरे दरवाज़े पर दस्तक होती है। मैं अखबार एक तरफ रखकर दरवाज़ा खोलता हूँ। अतुल मवानी सामने खड़ा है।

"यार, क्या मुसीबत है, आज कोई आयरन करनेवाला भी नहीं आया, ज़रा अपना आयरन देना।" अतुल कहता है तो मुझे तसल्ली होती है। नहीं तो उसका चेहरा देखते ही मुझे खटका हुआ था कि कहीं शव-यात्रा में जाने का बवाल न खड़ा कर दे। मैं उसे फौरन आयरन दे देता हूँ और निश्चिन्त हो जाता हूँ कि अतुल अब अपनी पैण्ट पर लोहा करेगा और दूतावासों के चक्कर काटने के लिए निकल जायेगा।

जब से मैंने अखबार में सेठ दीवानचन्द की मौत की खबर पढ़ी थी, मुझे हर क्षण यही खटका लगा था कि कहीं कोई आकर इस सर्दी में शव के साथ जाने की बात न कह दे। बिल्डिंग के सभी लोग उनसे परिचित थे और सभी शरीफ, दुनियादार आदमी थे।

तभी सरदारजी का नौकर ज़ीने से भड़भड़ाता हुआ आया और दरवाज़ा खोलकर बाहर जाने लगा! अपने मन को और सहारा देने के लिए मैंने उसे

पुकारा, "धर्मा ! कहाँ जा रहा है ?"

"सरदारजी के लिए मक्खन लेने।" उसने वहीं से जवाब दिया तो लगे हाथों लपककर मैंने भी अपनी सिगरेट मँगवाने के लिए उसे पैसे थमा दिये।

सरदारजी नाश्ते के लिए मक्खन मँगवा रहे हैं, इसका मतलब है वे भी शव-यात्रा में शामिल नहीं हो रहे हैं। मुझे कुछ राहत मिली। जब अतुल मवानी और सरदारजी का इरादा शव-यात्रा में जाने का नहीं है तो मेरा कोई सवाल ही नहीं उठता। इन दोनों का या वासवानी-परिवार का ही सेठ दीवानचन्द के यहाँ ज़्यादा आना-जाना था। मेरी तो चार-पाँच बार की मुलाकात-भर थी। अगर ये लोग ही शामिल नहीं हो रहे हैं तो मेरा सवाल ही नहीं उठता।

सामने बारजे पर मुझे मिसेज़ वासवानी दिखायी पड़ती हैं। उनके ख़ूबसूरत चेहरे पर अजीब-सी सफेदी है और होंठों पर पिछली शाम की लिपस्टिक की हल्की लाली अभी भी मौजूद है। गाउन पहने हुए ही वह निकली हैं और अपना जूड़ा बाँध रही हैं। उनकी आवाज़ सुनायी पड़ती है, "डार्लिंग, ज़रा मुझे पेस्ट देना, प्लीज़..."

मुझे और राहत मिलती है। इसका मतलब है कि मिस्टर वासवानी भी मैयत में शामिल नहीं हो रहे हैं।

दूर आर्यसमाज रोड पर वह अरथी बहुत आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ती आ रही है—

अतुल मवानी मुझे आयरन लौटाने आता है। मैं आयरन लेकर दरवाजा बन्द कर लेना चाहता हूँ, पर वह भीतर आकर खड़ा हो जाता है और कहता है, "तुमने सुना, दीवानचन्द की कल मौत हो गयी ?"

"मैंने अखबार में पढ़ा है," मैं सीधा-सा जवाब देता हूँ, ताकि मौत की बात आगे न बढ़े। अतुल मवानी के चेहरे पर सफेदी झलक रही है, वह शेव कर चुका है। वह आगे कहता है, "बड़े भले आदमी थे दीवानचन्द।"

यह सुनकर मुझे लगता है कि अगर बात आगे बढ़ गयी तो अभी शव-यात्रा में शामिल होने की नैतिक ज़िम्मेदारी हो जायेगी, इसलिए मैं कहता हूँ, "तुम्हारे उस काम का क्या हुआ ?"

"बस, मशीन आने-भर की देर है। आते ही अपना कमीशन तो खड़ा हो जायेगा। यह कमीशन का काम भी बड़ा बेहूदा है। पर किया क्या जाये ? आठ-

दस मशीनें मेरे थ्रू निकल गयीं तो अपना बिज़नेस शुरू कर दूँगा।" अतुल मवानी कह रहा है, "भाई शुरू-शुरू में जब मैं यहाँ आया था तो दीवानचन्दजी ने बड़ी मदद की थी मेरी। उन्हीं की वजह से कुछ काम-धाम मिल गया था। लोग बहुत मानते थे उन्हें।"

फिर दीवानचन्द का नाम सुनते ही मेरे कान खड़े हो जाते हैं। तभी खिड़की से सरदारजी सिर निकालकर पूछते हैं, "मिस्टर मवानी, कितने बजे चलना है?"

"वक्त तो नौ बजे का था। शायद सर्दी और कुहरे की वजह से कुछ देर हो जाये।" वह कह रहा है और मुझे लगता है कि यह बात शव-यात्रा के बारे में ही है।

सरदारजी का नौकर धर्मा मुझे सिगरेट देकर जा चुका है और ऊपर मेज़ पर चाय लगा रहा है। तभी मिसेज वासवानी की आवाज़ सुनायी पड़ती है, "मेरे ख्याल से प्रमिला ज़रूर पहुँचेगी, क्यों डार्लिंग?"

"पहुँचना तो चाहिए—तुम ज़रा जल्दी से तैयार हो जाओ।" कहते हुए मिस्टर वासवानी बारजे से गुज़र गये हैं।

अतुल मुझसे पूछ रहा है, "शाम को कॉफी-हाउस की तरफ आना होगा?"

"शायद चला आऊँ", कहते हुए मैं कम्बल लपेट लेता हूँ और वह वापस अपने कमरे में चला जाता है। आधी मिनट बाद ही उसकी आवाज़ फिर आती है, "भई, बिजली आ रही है?"

मैं जवाब दे देता हूँ, "हाँ, आ रही है।" मैं जानता हूँ कि वह इलेक्ट्रिक रॉड से पानी गरम कर रहा है, इसीलिए उसने यह पूछा है।

"पालिश।" बूट-पालिशवाला लड़का हर रोज़ की तरह अदब से आवाज़ लगाता है और सरदारजी उसे ऊपर से पुकार लेते हैं। लड़का बाहर बैठकर पालिश करने लगता है और वह अपने नौकर को हिदायतें दे रहे हैं, खाना ठीक एक बजे लेकर आना।—पापड़ भूनकर लाना और सलाद भी बना लेना।..."

मैं जानता हूँ, सरदारजी का नौकर पाजी है। वह कभी वक्त से खाना नहीं पहुँचाता और न उनके मन की चीज़ें ही पकाता है।

बाहर सड़क पर कुहरा अब भी घना है। सूरज की किरणों का पता नहीं है। कुलचे-छोलेवाले वैष्णव ने अपनी रेड़ी लाकर खड़ी कर ली है। रोज़ की

तरह वह प्लेटें सजा रहा है, उनकी खनखनाहट की आवाज़ आ रही है।

सात नम्बर की बस छूट रही है। सूलियों पर लटके ईसा उसमें चले जा रहे हैं और क्यू में खड़े और लोगों को कंडक्टर पेशगी टिकिट बाँट रहा है। हर बार जब भी वह पैसे वापस करता है तो रेज़गारी की खनक यहाँ तक आती है। धुन्ध में लिपटी रूहों के बीच काली वरदीवाला कंडक्टर शैतान की तरह लग रहा है।

और अरथी अब कुछ और पास आ गयी है।

"नीली साड़ी पहन लूँ?" मिसेज़ वासवानी पूछ रही हैं।

वासवानी के जवाब देने की घुटी-घुटी आवाज़ से लग रहा है कि वह टाई की नॉट ठीक कर रहा है।

सरदारजी के नौकर ने उनका सूट ब्रूश से साफ करके हैंगर पर लटका दिया है और सरदारजी शीशे के सामने खड़े पगड़ी बाँध रहे हैं।

अतुल मवानी फिर मेरे सामने से निकला है। पोर्ट फोलियो उसके हाथ में है। पिछले महीने बनवाया हुआ सूट उसने पहन रखा है। उसके चेहरे पर ताज़गी और जूतों पर चमक है। आते ही वह मुझसे पूछता है, "तुम नहीं चल रहे हो?" और मैं जब तक पूछूँ कि कहाँ चलने का वह पूछ रहा है कि वह सरदारजी को आवाज़ लगाता है, "आइए, सरदारजी! अब देर हो रही है। दस बज चुका है।"

दो मिनट बाद ही सरदारजी तैयार होकर नीचे आते हैं कि वासवानी ऊपर से ही मवानी का सूट देखकर पूछता है, "ये सूट किधर सिलवाया?"

"उधर खान मार्केट में।"

"बहुत अच्छा सिला है। टेलर का पता हमें भी देना।" फिर वह अपनी मिसेज़ को पुकारता है, "अब आ जाओ, डियर।—अच्छा मैं नीचे खड़ा हूँ, तुम आओ।" कहता हुआ वह भी मवानी और सरदारजी के पास आ जाता है और सूट को हाथ लगाते हुए पूछता है, "लाइनिंग इंडियन है?"

"इंग्लिश।"

"बहुत अच्छा फिटिंग है।" कहते हुए वह टेलर का पता डायरी में नोट करता है। मिसेज वासवानी बारजे पर दिखायी पड़ती हैं—नम और सर्द सुबह में उनका रूप और निखर आया है। सरदारजी धीरे से मवानी को आँख का

इशारा करके सीटी बजाने लगते हैं ।

अरथी अब सड़क पर ठीक मेरे कमरे के नीचे है । उसके साथ कुछेक आदमी हैं, एक-दो कारें भी हैं, जो धीरे-धीरे रेंग रही हैं । लोग बातों में मशगूल हैं ।

मिसेज़ वासवानी जूड़े में फूल लगाते हुए नीचे उतरती हैं तो सरदारजी अपनी जेब का रूमाल ठीक करने लगते हैं । और इससे पहले कि वे लोग बाहर जायें वासवानी मेरे से पूछता है, "आप नहीं चल रहे ?"

"आप चलिए, मैं आ रहा हूँ", मैं कहता हूँ, पर दूसरे ही क्षण मुझे लगता है कि उसने मुझे कहाँ चलने को कहा है ? मैं अभी खड़ा सोच ही रहा हूँ कि वे चारों घर के बाहर हो जाते हैं ।

अरथी कुछ और आगे निकल गयी है । एक कार पीछे से आती है और अरथी के पास धीमी होती है । चलानेवाले साहब शव-यात्रा में पैदल चलनेवाले एक आदमी से कुछ बातें करते हैं और कार सर्र से आगे बढ़ जाती है । अरथी के साथ पीछे जानेवाली दोनों कारें भी उसी कार के पीछे सरसराती हुई चली जाती हैं ।

मिसेज वासवानी और वे तीनों लोग टैक्सी की ओर जा रहे हैं । मैं उन्हें देखता रहता हूँ । मिसेज वासवानी ने फर-कालर डाल रखा है और शायद सरदारजी अपने चमड़े के दस्ताने उन्हें दे रहे हैं या दिखा रहे हैं । टैक्सी ड्राइवर आगे बढ़कर दरवाजा खोलता है और वे चारों टैक्सी में बैठ जाते हैं । अब टैक्सी इधर ही आ रही है और उसमें से खिलखिलाने की आवाज मुझे सुनायी पड़ रही है । वासवानी आगे सड़क पर जाती अरथी की ओर इशारा करते हुए ड्राइवर को कुछ बता रहा है ।

मैं चुपचाप खड़ा देख रहा हूँ और अब न जाने क्यों मुझे मन में लग रहा है कि दीवानचन्द की शव-यात्रा में कम-से-कम मुझे तो शामिल हो ही जाना चाहिए था । उनके लड़के से मेरी खासी जान-पहचान है और ऐसे मौके पर दुश्मन का साथ भी दिया जाता है । सर्दी की वजह से मेरी हिम्मत छूट रही है—पर मन में कहीं शव-यात्रा में शामिल होने की बात भीतर ही कौंच रही है ।

उन चारों की टैक्सी अरथी के पास धीमी होती है । मवानी गरदन निकाल-

कर कुछ कहता है और दाहिने से रास्ता काटते हुए टैक्सी आगे बढ़ जाती है।

मुझे धक्का-सा लगता है और मैं ओवरकोट पहनकर, चप्पलें डालकर नीचे उतर आता हूँ। मुझे मेरे कदम अपने-आप अरथी के पास पहुँचा देते हैं और मैं चुपचाप उसके पीछे-पीछे चलने लगता हूँ। चार आदमी कन्धा दिये हुए हैं और सात आदमी साथ चल रहे हैं—सातवाँ मैं ही हूँ। और मैं सोच रहा हूँ कि आदमी के मरते ही कितना फर्क पड़ जाता है। पिछले साल ही दीवानचन्द ने अपनी लड़की की शादी की थी तो हजारों की भीड़ थी। कोठी के बाहर कारों की लाइन लगी हुई थी···

मैं अरथी के साथ-साथ लिंक रोड पर पहुँच चुका हूँ। अगले मोड़ पर पँचकुइयाँ श्मशान-भूमि है।

और जैसे ही अरथी मोड़ पर घूमती है, लोगों की भीड़ और कारों की कतार मुझे दिखायी देने लगती है। कुछ स्कूटर भी खड़े हैं। औरतों की भीड़ एक तरफ खड़ी है। उनकी बातों की ऊँची ध्वनियाँ सुनायी पड़ रही हैं। उनके खड़े होने में वही लचक है जो कनाटप्लेस में दिखायी पड़ती है। सभी के जूड़ों के स्टाइल अलग-अलग हैं। मरदों की भीड़ से सिगरेट का धुँआ उठ-उठकर कुहरे में घुला जा रहा है और बात करती हुई औरतों के लाल-लाल होंठ और सफेद दाँत चमक रहे हैं और उनकी आँखों में एक गरूर है···

अरथी को बाहर बने चबूतरे पर रख दिया गया है। अब खामोशी छा गयी है। इधर-उधर बिखरी हुई भीड़ शव के इर्द-गिर्द जमा हो गयी है और कारों के शोफर हाथों में फूलों के गुलदस्ते और मालाएँ लिये अपनी मालकिनों की नज़रों का इन्तजार कर रहे हैं।

मेरी नज़र वासवानी पर पड़ती है। वह अपनी मिसेज़ को आँख के इशारे से शव के पास जाने को कह रहा है और वह है कि एक औरत के साथ खड़ी बात कर रही है। सरदारजी और अतुल मवानी भी वहीं खड़े हुए हैं। शव का मुँह खोल दिया गया है और सब औरतें फूल और मालाएँ उसके इर्द-गिर्द रखती जा रही हैं। शोफर खाली होकर अब कारों के पास खड़े सिगरेट पी रहे हैं।

एक महिला माला रखकर कोट की जेब से रूमाल निकालती है और आँखों पर रखकर नाक सुरसुराने लगती है और पीछे हट जाती है।

और अब सभी औरतों ने रूमाल निकाल लिये हैं और उनकी नाकों से

आवाजें आ रही हैं।

कुछ आदमियों ने अगरबत्तियाँ जलाकर शव के सिरहाने रख दी हैं। वे निश्चल खड़े हैं।

आवाज़ों से लग रहा है कि औरतों के दिल को ज्यादा सदमा पहुँचा है।

अतुल मवानी अपने पोर्टफोलियों से कोई कागज़ निकालकर वासवानी को दिखा रहे हैं। मेरे ख्याल से वह पासपोर्ट का फार्म है।

अब शव को भीतर श्मशान-भूमि में ले जाया जा रहा है। भीड़ फाटक के बाहर खड़ी देख रही है। शोफरों ने सिगरेटें या तो पी लीं या बुझा दी हैं और वे अपनी-अपनी कारों के पास तैनात हैं।

शव अब भीतर पहुँच चुका है।

मातमपुरसी के लिए आदमी और औरतें अब बाहर की तरफ लौट रहे हैं।

कारों के दरवाजे खुलने और बन्द होने की आवाजें आ रही हैं। स्कूटर स्टार्ट हो रहे हैं और कुछ लोग रीडिंग रोड बस-स्टाप की ओर बढ़ रहे हैं।

कुहरा अभी भी घना है। सड़क से बसें गुज़र रही हैं और मिसेज वासवानी कह रही हैं, "प्रमिला ने शाम को बुलाया है, चलोगे न डियर? कार आ जायेगी। ठीक है न?"

वासवानी स्वीकृति में सिर हिला रहा है।

कारों में जाती हुई औरतें मुस्कराते हुए एक-दूसरे से विदा ले रही हैं और बाई-बाई की कुछ-एक आवाजें आ रही हैं। कारें स्टार्ट होकर जा रही हैं।

अतुल मवानी और सरदारजी भी रीडिंग रोड बस-स्टाप की ओर बढ़ गये हैं और मैं खड़ा सोच रहा हूँ कि अगर मैं भी तैयार होकर आया होता तो यहीं से सीधा काम पर निकल जाता। लेकिन अब तो साढ़े ग्यारह बज चुके हैं।

चिता में आग लगा दी गयी है और चार-पाँच आदमी पेड़ के नीचे पड़ी बेंच पर बैठे हुए हैं। मेरी तरह वे भी यूँ ही चले आये हैं। उन्होंने ज़रूर छुट्टी ले रखी होगी, नहीं तो वे भी तैयार होकर आते।

मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि घर जाकर तैयार होकर दफ्तर जाऊँ या अब एक मौत का बहाना बनाकर आज छुट्टी ही ले लूँ—आखिर मौत तो हुई ही है और शव-यात्रा में शामिल भी हुआ हूँ।

वापसी

●

उषा प्रियम्वदा

गजाधर बाबू ने कमरे में जमा सामान पर एक नजर दौड़ायी—दो बक्स, डोलची, बालटी,—"यह डिब्बा कैसा है, गनेशी ?" उन्होंने पूछा। गनेशी बिस्तर बाँधता हुआ, कुछ गर्व, कुछ दुःख, कुछ लज्जा से बोला, "घरवाली ने साथ को कुछ बेसन के लड्डू रख दिये हैं। कहा, बाबूजी को पसन्द थे, अब कहाँ हम गरीब लोग आपकी कुछ खातिर कर पायेंगे !" घर जाने की खुशी में भी गजाधर बाबू ने एक विषाद का अनुभव किया, जैसे एक परिचित, स्नेह, आदरमय, सहज संसार से उनका नाता टूट रहा था।

"कभी-कभी हम लोगों की भी खबर लेते रहियेगा।" गनेशी बिस्तर में रस्सी बाँधता हुआ बोला।

"कभी कुछ जरूरत हो तो लिखना गनेशी ! इस अगहन तक बिटिया की शादी कर दो।"

गनेशी ने अँगोछे के छोर से आँखें पोंछी, "अब आप लोग सहारा न देंगे, तो कौन देगा ! आप यहाँ रहते तो शादी में कुछ हौसला रहता।"

गजाधर बाबू चलने को तैयार बैठे थे। रेलवे क्वार्टर का वह कमरा, जिसमें उन्होंने कितने ही वर्ष बिताये थे, उनका सामान हट जाने से कुरूप और नग्न लग रहा था। आँगन में रोपे पौधे भी जान-पहचान के लोग ले गये थे, और जगह-जगह मिट्टी बिखरी हुई थी। पर पत्नी, बाल-बच्चों के साथ रहने की कल्पना में यह बिछोह एक दुर्बल लहर की तरह उठकर विलीन हो गया।

गजाधर बाबू खुश थे, बहुत खुश। पैंतीस साल की नौकरी के बाद वह रिटायर होकर जा रहे थे। इन वर्षों में अधिकांश समय उन्होंने अकेले रहकर काटा था। उन अकेले क्षणों में उन्होंने इसी समय की कल्पना की थी, जब वह अपने परिवार के साथ रह सकेंगे। इसी आशा के सहारे वह अपने अभाव का बोझ ढो रहे थे। संसार की दृष्टि में उनका जीवन सफल कहा जा सकता था। उन्होंने शहर में एक मकान बनवा लिया था, बड़े लड़के अमर और लड़की कान्ति की शादियाँ कर दी थी, दो बच्चे ऊँची कक्षाओं में पढ़ रहे थे। गजाधर बाबू नौकरी के कारण प्रायः छोटे स्टेशनों पर रहे और उनके बच्चे और पत्नी शहर में, जिससे पढ़ाई में बाधा न हो। गजाधर बाबू स्वभाव से बहुत स्नेही व्यक्ति थे और स्नेह के आकांक्षी भी। जब परिवार साथ था, ड्यूटी से लौटकर बच्चों से हँसते-बोलते, पत्नी से कुछ मनोविनोद करते—उन सबके चले जाने से उनके जीवन में गहन सूनापन भर उठता। खाली क्षणों में उनसे घर में टिका न जाता। कवि-प्रकृति के न होने पर भी उन्हें पत्नी की स्नेहपूर्ण बातें याद आती रहतीं। दोपहर में गर्मी होने पर भी, दो बजे तक आग जलाये रहती और उनके स्टेशन से वापस आने पर गरम-गरम रोटियाँ सेंकती—उनके खा चुकने और मना करने पर भी थोड़ा-सा कुछ और थाली में परोस देती, और बड़े प्यार से आग्रह करती। जब वह थके-हारे बाहर से आते, तो उनकी आहट पा वह रसोई के द्वार पर निकल आती और उसकी सलज्ज आँखें मुस्करा उठतीं। गजाधर बाबू को तब हर छोटी बात याद आती और वह उदास हो उठते··· अब कितने वर्षों बाद वह अवसर आया था, जब वह फिर उसी स्नेह और आदर के मध्य रहने जा रहे थे।

टोपी उतारकर गजाधर बाबू ने चारपाई पर रख दी, जूते खोलकर नीचे खिसका दिये, अन्दर से रह-रहकर कहकहों की आवाज आ रही थी। इतवार का दिन था और उनके सब बच्चे इकट्ठे होकर नाश्ता कर रहे थे। गजाधर बाबू के सूखे चेहरे पर स्निग्ध मुस्कान आ गयी, उसी तरह मुस्कराते हुए वह बिना खाँसे अन्दर चले आये। उन्होंने देखा कि नरेन्द्र कमर पर हाथ रखे शायद गत रात्रि की फिल्म में देखे गये किसी नृत्य की नकल कर रहा था और बसन्ती हँस-हँसकर दुहरी हो रही थी। अमर की बहू को अपने तन-बदन, आँचल या घूँघट का कोई होश न था और वह उन्मुक्त-रूप से हँस रही थी। गजाधर

बाबू को देखते ही नरेन्द्र धप-से बैठ गया और चाय का प्याला उठाकर मुँह से लगा लिया। बहू को होश आया और उसने झट से माथा ढक लिया, केवल बसन्ती का शरीर रह-रहकर हँसी दबाने के प्रयत्न में हिलता रहा।

गजाधर बाबू ने मुस्कराते हुए उन लोगों को देखा। फिर कहा, "क्यों नरेन्द्र, क्या नकल हो रही थी?" "कुछ नहीं बाबूजी!" नरेन्द्र ने सिटपिटाकर कहा। गजाधर बाबू ने चाहा था कि वह भी इस मनोविनोद में भाग लेते, पर उनके आते ही जैसे सब कुण्ठित हो चुप हो गये, उससे उनके मन में थोड़ी-सी खिन्नता उपज आयी। बैठते हुए बोले, "बसन्ती, चाय मुझे भी देना। तुम्हारी अम्माँ की पूजा अभी चल रही है क्या?"

बसन्ती ने माँ की कोठरी की ओर देखा, "अभी आती ही होंगी", और प्याले में उनके लिए चाय छानने लगी। बहू चुपचाप पहले ही चली गयी थी, अब नरेन्द्र भी चाय का आखिरी घूँट पीकर उठ खड़ा हुआ। केवल बसन्ती, पिता के लिहाज में, चौके में बैठी माँ की राह देखने लगी। गजाधर बाबू ने एक घूँट चाय पी ली, फिर कहा, "बिट्टी, चाय तो फीकी है।"

"लाइए, चीनी और डाल दूँ।" बसन्ती बोली।

"रहने दो, तुम्हारी अम्मा जब आयेगी, तभी पी लूँगा।"

थोड़ी देर में उनकी पत्नी हाथ में अर्घ्य का लोटा लिये निकलीं और अशुद्ध स्तुति कहते हुए तुलसी में डाल दिया। उन्हें देखते ही बसन्ती भी उठ गयी। पत्नी ने आकर गजाधर बाबू को देखा और कहा, 'अरे, आप अकेले बैठे हैं—ये सब कहाँ गये?" गजाधर बाबू के मन में फाँस-सी करक उठी, "अपने-अपने काम में लग गये हैं—आखिर बच्चे ही हैं।"

पत्नी आकर चौके में बैठ गयीं; उन्होंने नाक-भौं चढ़ाकर चारों ओर जूठे बर्तनों को देखा। फिर कहा, "सारे जूठे बर्तन पड़े हैं। इस घर में धरम-करम कुछ नहीं। पूजा करके सीधे चौके में घुसो।" फिर उन्होंने नौकर को पुकारा, जब उत्तर न मिला तो एक बार और उच्च स्वर में, फिर पति की ओर देखकर बोलीं, "बहू ने भेजा होगा बाजार।" और एक लम्बी साँस लेकर चुप हो रहीं।

गजाधर बाबू बैठकर चाय और नाश्ते का इन्तजार करते रहे। उन्हें अचानक ही गनेशी की याद आ गयी। रोज सुबह, पैसेंजर आने से पहले वह

गरम-गरम पूरियाँ और जलेबी बनाता था। गजाधर बाबू जब तक उठकर तैयार होते, उनके लिए जलेबियाँ और चाय लाकर रख देता था। चाय भी कितनी बढ़िया, काँच के गिलास में ऊपर तक भरी लबालब, पूरे ढाई चम्मच चीनी और गाढ़ी मलाई। पैसेंजर भले ही रानीपुर लेट पहुँचे, गनेशी ने चाय पहुँचाने में देर नहीं की। क्या मजाल कि कभी उससे कुछ कहना पड़े!

पत्नी का शिकायत-भरा स्वर सुन उनके विचारों में व्याघात पहुँचा। वह कह रही थीं, "सारा दिन इसी खिच-खिच में निकल जाता है। इस गृहस्थी का धन्धा पीटते-पीटते उमर बीत गयी। कोई ज़रा हाथ भी नहीं बँटाता।"

"बहू क्या करती है?" गजाधर बाबू ने पूछा।

"पड़ी रहती है। बसन्ती को तो, फिर कहो कि कॉलेज जाना होता है।"

गजाधर बाबू ने जोश में आकर बसन्ती को आवाज दी। बसन्ती भाभी के कमरे से निकली तो गजाधर बाबू ने कहा, "बसन्ती, आज से शाम का खाना बनाने की जिम्मेदारी तुम पर है। सुबह का भोजन तुम्हारी भाभी बनायेगी।"

बसन्ती मुँह लटकाकर बोली, "बाबूजी, पढ़ना भी तो होता है।"

गजाधर बाबू ने प्यार से समझाया, "तुम सुबह पढ़ लिया करो। तुम्हारी माँ बूढ़ी हुई, उनके शरीर में अब वह शक्ति नहीं बची है। तुम हो, तुम्हारी भाभी हैं, दोनों को मिलकर काम में हाथ बँटाना चाहिए।"

बसन्ती चुप रह गयी। उसके जाने के बाद उसकी माँ ने धीरे से कहा, "पढ़ने का तो बहाना है। कभी जी ही नहीं लगता, लगे कैसे? शीला से ही फ़ुरसत नहीं, बड़े-बड़े लड़के हैं उस घर में, हर वक्त वहाँ घुसा रहना मुझे नहीं सुहाता। मना करूँ तो सुनती नहीं।"

नाश्ता कर गजाधर बाबू बैठक में चले गये। घर छोटा था और ऐसी व्यवस्था हो चुकी थी कि उसमें गजाधर बाबू के रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबन्ध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुरसियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली-सी चारपाई डाल दी गयी थी। गजाधर बाबू उस कमरे में पड़े-पड़े, कभी-कभी अनायास ही, इस अस्थायित्व का अनुभव करने लगते। उन्हें याद हो आती उन रेलगाड़ियों की, जो आतीं और थोड़ी देर रुककर किसी और

लक्ष्य की ओर चली जातीं।

घर छोटा होने के कारण बैठक में ही अब अपना प्रबन्ध किया था। उनकी पत्नी के पास अन्दर एक छोटा कमरा अवश्य था, पर वह एक ओर अचारों के मर्तबान, दाल, चावल के कनस्तर और घी के डिब्बों से घिरा था; दूसरी ओर पुरानी रजाइयाँ, दरियों में लिपटी और रस्सी से बँधी रखी थीं; उसके पास एक बड़े-से टीन के बक्स में घर-भर के गरम कपड़े थे। बीच में एक अलगनी बँधी हुई थी, जिस पर प्रायः बसन्ती के कपड़े लापरवाही से पड़े रहते थे। वह भरसक उस कमरे में नहीं जाते थे। घर का दूसरा कमरा अमर और उसकी बहू के पास था, तीसरा कमरा, जो सामने की ओर था, बैठक था। गजाधर बाबू के आने से पहले उसमें अमर की ससुराल से आया बेंत की तीन कुरसियों का सेट पड़ा था, कुरसियों पर नीली गद्दियाँ और बहू के हाथों के कढ़े कुशन थे।

जब कभी उनकी पत्नी को कोई लम्बी शिकायत करनी होती, तो अपनी चटाई बैठक में डाल पड़ जाती थीं। वह एक दिन चटाई लेकर आ गयीं। गजाधर बाबू ने घर-गृहस्थी की बातें छेड़ीं, वह घर का रवैया देख रहे थे। बहुत हल्के-से उन्होंने कहा कि अब हाथ में पैसा कम रहेगा, कुछ खर्च कम होना चाहिए।

"सभी खर्च तो वाजिब-वाजिब हैं, किसका पेट काटूँ? यही जोड़-गाँठ करते-करते बूढ़ी हो गयी, न मन का पहना, न ओढ़ा।"

गजाधर बाबू ने आहत, विस्मित दृष्टि से पत्नी को देखा। उनसे अपनी हैसियत छिपी न थी। उनकी पत्नी तंगी का अनुभव कर उसका उल्लेख करतीं, यह स्वाभाविक था, लेकिन उनमें सहानुभूति का पूर्ण अभाव गजाधर बाबू को बहुत खटका। उनसे यदि राय-बात की जाती कि प्रबन्ध कैसे हो, तो उन्हें चिन्ता कम, सन्तोष अधिक होता। लेकिन उनसे तो केवल शिकायत की जाती थी, जैसे परिवार की सब परेशानियों के लिए वही जिम्मेदार थे।

"तुम्हें किस बात की कमी है अमर की माँ—घर में बहू है, लड़के-बच्चे हैं, सिर्फ़ रुपये से ही आदमी अमीर नहीं होता।" गजाधर बाबू ने कहा और कहने के साथ ही अनुभव किया। यह उनकी आन्तरिक अभिव्यक्ति थी—ऐसी कि उनकी पत्नी नहीं समझ सकतीं। "हाँ, बड़ा सुख है न बहू से। आज रसोई

करने गयी है, देखो क्या होता है ?" कहकर पत्नी ने ग्राँखें मूँदीं ग्रौर सो गयीं। गजाधर बाबू बैठे हुए पत्नी को देखते रह गये। यही थी क्या उनकी पत्नी, जिसके हाथों के कोमल स्पर्श, जिसकी मुस्कान की याद में उन्होंने सम्पूर्ण जीवन काट दिया था ? उन्हें लगा कि वह लावण्यमयी युवती जीवन की राह में कहीं खो गयी ग्रौर उसकी जगह ग्राज जो स्त्री है, वह उनके मन ग्रौर प्राणों के लिए नितान्त ग्रपरिचिता है। गाढ़ी नींद में डूबी उनकी पत्नी का भारी-सा शरीर बहुत बेडौल ग्रौर कुरूप लग रहा था, चेहरा श्रीहीन ग्रौर रूखा था। गजाधर बाबू देर तक निस्संग दृष्टि से पत्नी को देखते रहे ग्रौर फिर लेटकर छत की ग्रोर ताकने लगे।

ग्रन्दर कुछ गिरा ग्रौर उनकी पत्नी हड़बड़ाकर उठ बैठीं, "लो बिल्ली ने कुछ गिरा दिया शायद", ग्रौर वह ग्रन्दर भागीं। थोड़ी देर में लौटकर ग्रायीं तो उनका मुँह फूला-फूला हुग्रा था, "देखा बहू को, चौका खुला छोड़ ग्रायी, बिल्ली ने दाल की पतीली गिरा दी। सभी तो खाने को हैं, ग्रब क्या खिलाऊँगी ?" वह साँस लेने को रुकीं ग्रौर बोलीं, "एक तरकारी ग्रौर चार पराँठे बनाने में सारा डिब्बा घी उँड़ेलकर रख दिया। ज़रा-सा दर्द नहीं है, कमानेवाला हाड़ तोड़े ग्रौर यहाँ चीज़ें लुटें। मुझे तो मालूम था कि यह सब काम किसी के बस का नहीं है।"

गजाधर बाबू को लगा कि पत्नी कुछ ग्रौर बोलेंगी तो उनके कान झनझना उठेंगे। ग्रोठ भींच, करवट लेकर उन्होंने पत्नी की ग्रोर पीठ कर ली।

× × ×

रात का भोजन बसन्ती ने जान-बूझकर ऐसा बनाया था कि कौर तक निगला न जा सके। गजाधर बाबू चुपचाप खाकर उठ गये, पर नरेन्द्र थाली सरकाकर उठ खड़ा हुग्रा ग्रौर बोला, "मैं ऐसा खाना नहीं खा सकता।"

बसन्ती तुनककर बोली, "तो न खाग्रो, कौन तुम्हारी खुशामद करता है !"

"तुमसे खाना बनाने को कहा किसने था ?" नरेन्द्र चिल्लाया।

"बाबूजी ने।"

"बाबूजी को बैठे-बैठे यही सूझता है।"

बसन्ती को उठाकर माँ ने नरेन्द्र को मनाया ग्रौर ग्रपने हाथ से कुछ बनाकर खिलाया। गजाधर बाबू ने बाद में पत्नी से कहा, "इतनी बड़ी लड़की

हो गयी और उसे खाना बनाने तक का शऊर नहीं आया !"

"अरे आता सबकुछ है, करना नहीं चाहती ।" पत्नी ने उत्तर दिया। अगली शाम माँ को रसोई में देख, कपड़े बदलकर बसन्ती बाहर आयी, तो बैठक से गजाधर बाबू ने टोक दिया, "कहाँ जा रही हो ?"

"पड़ोस में, शीला के घर ।" बसन्ती ने कहा ।

"कोई जरूरत नहीं है, अन्दर जाकर पढ़ो ।" गजाधर बाबू ने कड़े स्वर में कहा । कुछ देर अनिश्चित खड़े रहकर बसन्ती अन्दर चली गयी । गजाधर बाबू शाम को रोज टहलने चले जाते थे, लौटकर आये तो पत्नी ने कहा, "क्या कह दिया बसन्ती से ? शाम से मुँह लपेटे पड़ी है । खाना भी नहीं खाया ।"

गजाधर बाबू खिन्न हो आये । पत्नी की बात का उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया । उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि बसन्ती की शादी जल्दी ही कर देनी है । उस दिन के बाद बसन्ती पिता से बची-बची रहने लगी । जाना होता तो पिछवाड़े से जाती । गजाधर बाबू ने दो-एक बार पत्नी से पूछा तो उत्तर मिला, "रूठी हुई है ।" गजाधर बाबू को और रोष हुआ । लड़की के इतने मिजाज, जाने को रोक दिया तो पिता से बोलेगी नहीं ! फिर उनकी पत्नी ने ही सूचना दी कि अमर अलग रहने की सोच रहा है ।

"क्यों ?" गजाधर बाबू ने चकित होकर पूछा ।

पत्नी ने साफ़-साफ़ उत्तर नहीं दिया । अमर और उसकी बहू की शिकायतें बहुत थीं । उनका कहना था कि गजाधर बाबू हमेशा बैठक में ही पड़े रहते हैं, कोई आने-जानेवाला हो तो कहीं बिठाने की जगह नहीं । अमर को अब भी छोटा-सा समझते थे और मौक़े-बेमौक़े टोक देते थे । बहू को काम करना पड़ता था और सास जब-तब फूहड़पन पर ताने देती रहती थीं । "हमारे आने के पहले भी कभी ऐसी बात हुई थी ?" गजाधर बाबू ने पूछा । पत्नी ने सिर हिलाकर जताया कि नहीं । पहले अमर घर का मालिक बनकर रहता था, बहू को कोई रोक-टोक न थी, अमर के दोस्तों का प्रायः यहीं अड्डा जमा रहता था और अन्दर से नाश्ता-चाय तैयार होकर जाता रहता था । बसन्ती को भी वही अच्छा लगता था ।

गजाधर बाबू ने बहुत धीरे से कहा, "अमर से कहो, जल्दबाजी की कोई जरूरत नहीं है ।"

अगले दिन वह सुबह घूमकर लौटे तो उन्होंने पाया कि बैठक में उनकी चारपाई नहीं है। अन्दर आकर पूछने ही वाले थे कि उनकी दृष्टि रसोई के अन्दर बैठी पत्नी पर पड़ी। उन्होंने यह कहने को मुँह खोला कि बहू कहाँ है; पर कुछ यादकर चुप हो गये। पत्नी की कोठरी में झाँका तो अचार, रजाइयों और कनस्तरों के मध्य अपनी चारपाई लगी पायी। गजाधर बाबू ने कोट उतारा और कहीं टाँगने को दीवार पर नजर दौड़ायी। फिर उसे मोड़कर अलगनी के कुछ कपड़े खिसकाकर, एक किनारे टाँग दिया। कुछ खाये बिना ही अपनी चारपाई पर लेट गये। कुछ भी हो, तन आखिरकार बूढ़ा ही था। सुबह-शाम कुछ दूर टहलने अवश्य चले जाते, पर आते-जाते थक उठते थे। गजाधर बाबू को अपना बड़ा-सा, खुला हुआ क्वार्टर याद आ गया। निश्चित जीवन, सुबह पैसेंजर ट्रेन आने पर स्टेशन की चहल-पहल, चिर-परिचित चेहरे और पटरी पर रेल के पहियों की खट्-खट्, जो उनके लिए मधुर संगीत की तरह थी। तूफान और डाक गाड़ी के इंजनों की चिंघाड़ उनकी अकेली रातों की साथी थी। सेठ रामजीमल के मिल के कुछ लोग कभी-कभी पास आ बैठते, वही उनका दायरा था, वही उनके साथी। वह जीवन अब उन्हें एक खोयी निधि-सा प्रतीत हुआ। उन्हें लगा कि वह जिन्दगी द्वारा ठगे गये हैं। उन्होंने जो कुछ चाहा, उसमें से उन्हें एक बूँद भी न मिली।

लेटे हुए वह घर के अन्दर से आते विविध स्वरों को सुनते रहे। बहू और सास की छोटी-सी झड़प, बालटी पर खुले नल की आवाज, रसोई के बर्तनों की खटपट और उसी में दो गौरैयों का वार्तालाप—और अचानक ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब घर की किसी बात में दखल न देंगे। यदि गृहस्वामी के लिए पूरे घर में एक चारपाई की जगह यहीं है, तो यहीं पड़े रहेंगे। अगर कहीं और डाल दी गयी तो वहाँ चले जायँगे। यदि बच्चों के जीवन में उनके लिए कहीं स्थान नहीं, तो अपने ही घर में परदेशी की तरह रहेंगे···और उस दिन के बाद सचमुच गजाधर बाबू कुछ नहीं बोले। नरेन्द्र माँगने आया तो बिना कारण पूछे उसे रुपये दे दिये—बसन्ती काफी अँधेरा हो जाने के बाद भी पड़ोस में रही तो भी उन्होंने कुछ नहीं कहा—पर उन्हें सबसे बड़ा ग़म यह था कि उनकी पत्नी ने भी उनमें कुछ परिवर्तन लक्ष्य नहीं किया। वह मन-ही-मन कितना भार ढो रहे हैं, इससे वह अनजान ही बनी रहीं। बल्कि उन्हें पति के

घर के मामले में हस्तक्षेप न करने के कारण शान्ति ही थी। कभी-कभी कह भी उठतीं, "ठीक ही है। आप बीच में न पड़ा कीजिए, बच्चे बड़े हो गये हैं, हमारा जो कर्त्तव्य था, कर रहे हैं, पढ़ा रहे हैं। शादी कर देंगे।"

गजाधर बाबू ने आहत दृष्टि से पत्नी को देखा। उन्होंने अनुभव किया कि वह पत्नी व बच्चों के लिए केवल धनोपार्जन के निमित्त मात्र हैं। जिस व्यक्ति के अस्तित्व से पत्नी माँग में सिन्दूर डालने की अधिकारी है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा है, उसके सामने वह दो वक्त भोजन की थाली रख देने से सारे कर्त्तव्यों से छुट्टी पा जाती है। वह घी और चीनी के डिब्बों में इतनी रमी हुई हैं कि अब वही उनकी सम्पूर्ण दुनिया बन गयी है। गजाधर बाबू उनके जीवन के केन्द्र नहीं हो सकते, उन्हें तो अब बेटी की शादी के लिए भी उत्साह बुझ गया। किसी बात में हस्तक्षेप न करने के निश्चय के बाद भी उनका अस्तित्व उस वातावरण का एक भाग न बन सका। उनकी उपस्थिति उस घर में ऐसी असंगत लगने लगी थी, जैसे सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई थी। उनकी सारी खुशी एक गहरी उदासीनता में डूब गयी।

× × ×

इतने सब निश्चयों के बावजूद गजाधर बाबू एक दिन बीच में दखल दे बैठे। पत्नी स्वभावानुसार नौकर की शिकायत कर रही थीं, "कितना कामचोर है, बाजार की हर चीज में पैसा बनाता है, खाने बैठता है, तो खाता ही चला जाता है।" गजाधर बाबू को बराबर यह महसूस होता रहता था कि उनके घर का रहन-सहन और खर्च उनकी हैसियत से कहीं ज्यादा है। पत्नी की बात सुनकर लगा कि नौकर का खर्च बिल्कुल बेकार है। छोटा-मोटा काम है, घर में तीन मर्द हैं, कोई-न-कोई कर ही देगा। उन्होंने उसी दिन नौकर का हिसाब कर दिया। अमर दफ्तर से आया तो नौकर को पुकारने लगा। अमर की बहू बोली, "बाबूजी ने नौकर छुड़ा दिया है।"

"क्यों ?"

"कहते हैं खर्च बहुत है।"

यह वार्तालाप बहुत सीधा-सा था, पर जिस टोन में बहू बोली, गजाधर बाबू को खटक गया। उस दिन जी भारी होने के कारण गजाधर बाबू टहलने नहीं गये थे। आलस्य में उठकर बत्ती भी नहीं जलायी—इस बात से बेखबर

नरेन्द्र माँ से कहने लगा, "अम्माँ, तुम बाबूजी से कहतीं क्यों नहीं ? बैठे-बिठाये कुछ नहीं तो नौकर ही छुड़ा दिया। अगर बाबूजी यह समझें कि मैं साइकिल पर गेहूँ रख आटा पिसाने जाऊँगा, तो मुझसे यह नहीं होगा।" "हाँ अम्माँ", बसन्ती का स्वर था, "मैं कॉलेज भी जाऊँ और लौटकर घर में झाड़ू भी लगाऊँ, यह मेरे बस की बात नहीं है।"

"बूढ़े आदमी हैं", अमर भुनभुनाया, "चुपचाप पड़े रहें। हर चीज में दखल क्यों देते हैं ?" पत्नी ने बड़े व्यंग्य से कहा, "और कुछ नहीं सूझा, तो तुम्हारी बहू को चौके में भेज दिया। वह गयी तो पन्द्रह दिन का राशन पाँच दिन में बनाकर रख दिया।" बहू कुछ कहे, इससे पहले वह चौके में घुस गयीं। कुछ देर में अपनी कोठरी में आयीं और बिजली जलायी तो गजाधर बाबू को लेटे देख बड़ी सिटपिटायीं। गजाधर बाबू की मुख-मुद्रा से वह उनके भावों का अनुमान न लगा सकीं। वह चुप, आँखें बन्द किये लेटे रहे।

× × ×

गजाधर बाबू चिट्ठी हाथ में लिये अन्दर आये और पत्नी को पुकारा। वह भीगे हाथ लिये निकलीं और आँचल से पोंछती हुई पास आ खड़ी हुईं। गजाधर बाबू ने बिना किसी भूमिका के कहा, "मुझे सेठ रामजीमल की चीनी मिल में नौकरी मिल गयी है। खाली बैठे रहने से तो चार पैसे घर में आयें, वही अच्छा है। उन्होंने तो पहले ही कहा था, मैंने ही मना कर दिया था।" फिर कुछ रुककर, जैसे बुझी हुई आग में एक चिनगारी चमक उठे, उन्होंने धीमे स्वर में कहा, "मैंने सोचा था कि बरसों तुम सबसे अलग रहने के बाद अवकाश पाकर परिवार के साथ रहूँगा। खैर, परसों जाना है। तुम भी चलोगी ?" "मैं ?" पत्नी ने सकपकाकर कहा, "मैं चलूँगी तो यहाँ का क्या होगा ? इतनी बड़ी गृहस्थी, फिर सयानी लड़की..."

बात बीच में काट गजाधर बाबू ने हताश स्वर में कहा, "ठीक है, तुम यहीं रहो। मैंने तो ऐसे ही कहा था।" और गहरे मौन में डूब गये।

× × ×

नरेन्द्र ने बड़ी तत्परता से बिस्तर बाँधा और रिक्शा बुला लाया। गजाधर बाबू का टीन का बक्स और पतला-सा बिस्तर उस पर रख दिया गया। नाश्ते के लिए लड्डू और मठरी की डलिया हाथ में लिये गजाधर बाबू रिक्शे पर बैठ

गये। दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली। फिर दूसरी ओर देखने लगे और रिक्शा चल पड़ा। उनके जाने के बाद सब अन्दर लौट आये, बहू ने अमर से पूछा, "सिनेमा ले चलियेगा न ?" बसन्ती ने उछलकर कहा, "भइया, हमें भी।"

गजाधर बाबू की पत्नी सीधे चौके में चली गयीं। बची हुई मठरियों को कटोरदान में रखकर अपने कमरे में लायीं और कनस्तरों के पास रख दिया, फिर बाहर आकर कहा, "अरे नरेन्द्र, बाबूजी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने तक की जगह नहीं है।"

परिशिष्ट

सर्जनात्मक पाठ और मूल्यांकन की समस्या—संकलित कहानियाँ

यों कहानी के सर्जनात्मक पाठ और नये ढंग से मूल्यांकन की चर्चा कोई बहुत नयी या चौंकानेवाली बात नहीं है। इसकी शुरुआत काफी पहले हो चुकी है, लेकिन वह प्रायः पत्र-पत्रिकाओं तक सीमित रही है। इधर कुछ वर्षों में हिन्दी आलोचना-पद्धति ने नये मोड़ लिये हैं, लेकिन जितनी तेजी से काव्य-समीक्षा में अन्तर आया उतनी मात्रा में कथा-समीक्षा या नाट्य-समीक्षा के अन्तर्गत नहीं। हिन्दी में कहानी का जन्म ही बीसवीं शताब्दी की घटना है। उसके लघु कलेवर को देखते हुए उपन्यास की तुलना में उसे 'युग-संवेदना वहन करने में अक्षम' समझकर उपेक्षित किया गया। उसे या तो मात्र मनोरंजन की वस्तु मान लिया गया या सपाट चलते ढंग से पढ़ा-पढ़ाया गया और उपन्यास-नाटक की तरह ही शास्त्रीय तत्त्वों के आधार पर उसे भी देखा गया। एक बँधे-बँधाये ढाँचे और वर्गीकरण के साँचे में ढली हुई समीक्षा कहानी के 'कहानीपन' को उपेक्षित करती रही और पाठक भी सभी गद्य-विधाओं को समान मानदण्डों के आधार पर देखने और आँकने का अभ्यस्त हो गया। नयी कहानी के आन्दोलन के दौरान इस खतरनाक स्थिति का जब आभास हुआ तो स्वयं कहानीकारों ने अपनी भूमिकाओं और टिप्पणियों से इस स्थिति का विरोध शुरू किया और कहानी के प्रति गम्भीर रचनात्मक दृष्टि की माँग की। स्वतन्त्रता के बाद ही नवलेखन के आन्दोलन के साथ साहित्यशास्त्र के बने-बनाये तन्त्र के प्रति अवज्ञा या—विरोध का जन्म हुआ और कहानी के स्वतन्त्र रूप और महत्त्व को पहचाना गया। कहानी की असली गम्भीर चर्चा ही हिन्दी साहित्य-

जगत में १९५५ से आरम्भ हुई। एक ओर राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश-जैसे कहानीकारों ने अपने संग्रहों की भूमिकाओं में कहानी-सम्बन्धी नयी समीक्षा-चेतना की बात कही, तो दूसरी ओर भैरव प्रसाद गुप्त और नामवर सिंह ने अपने सम्पादकीय या कहानी-सम्बन्धी टिप्पणियों के अन्तर्गत कहानी के रचना-तन्त्र पर नये सिरे से विचार किया और इस तरह 'नयी कहानियाँ' में 'हाशिये पर' स्तम्भ से कहानी के वास्तविक अर्थ को समझने की ठोस प्रक्रिया की शुरुआत हुई।

यह एक साहित्यिक और ऐतिहासिक आवश्यकता है कि कविता और नाटक की तरह कहानी को भी रूढ़ शास्त्रीय मानदण्डों से मुक्त करके उसकी अपनी सत्ता को खोजा जाय और उसकी विश्लेषण-पद्धति और समीक्षा की शब्दावली में अपेक्षित अन्तर लाया जाय। साहित्य के जितने भी रूप हैं उनमें बात भले ही एक ही कही जाये, लेकिन अपने-अपने विधागत वैशिष्ट्य के कारण वस्तु भी विशिष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए आज के सम्पूर्ण साहित्य में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों को लेकर बहुत लिखा गया है लेकिन उपन्यास, नाटक, कहानी, कविता सबमें अलग विशेषताएँ हैं और उनके विभिन्न पहलू हैं। अन्य साहित्यिक रूपों की तरह कहानी भी जीवन को समझने का एक माध्यम है, इसलिए कहानी-सम्बधी सामान्य धारणा को, कहानी-शिल्प-सम्बन्धी आलोचनाओं, प्रचलित रूढ़ियों और फार्मूलों को मुख्य मानकर उनके आधार पर कहानी को फिट करने या मिसफिट करने की दृष्टि ही घातक है। हम कहानी को छः शास्त्रीय तत्त्वों—कथानक, चरित्र, वातावरण, देश-काल, भाषा-शैली, उद्देश्य—के आधार पर अलग-अलग टुकड़ों में देखने के अभ्यस्त हो गये हैं जबकि यह जानी हुई बात है कि कहानी में अनेक शास्त्रसम्मत मान्यताओं का टूटना प्रेमचन्द के साथ ही शुरू हो गया और 'पूस की रात' और 'कफ़न'-जैसी कहानियों से यह सत्य उद्घाटित होने लगा था कि 'प्रत्येक अनुभूति अथवा कथ्य अपना रूप स्वयं निर्धारित करता है··· ये रूपगत विविधताएँ अनिवार्य हैं' (नेमिचन्द्र जैन)। कहानी को तोड़कर अलग-अलग खानों में रखना हमारी अतिसरलीकरण की प्रवृत्ति है। इसी प्रकार कहानी के 'विषयगत', 'शिल्पगत', 'शैलीगत' वर्गीकरण की परम्परा भी वर्षों से चली आ रही है। कथानक-प्रधान, घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान, वातावरण-प्रधान या ऐतिहासिक, पौराणिक, मनोवैज्ञानिक कहानी या

जगत में १९५५ से आरम्भ हुई। एक ओर राजेन्द्र यादव और मोहन राकेश-जैसे कहानीकारों ने अपने संग्रहों की भूमिकाओं में कहानी-सम्बन्धी नयी समीक्षा-चेतना की बात कही, तो दूसरी ओर भैरव प्रसाद गुप्त और नामवर सिंह ने अपने सम्पादकीय या कहानी-सम्बन्धी टिप्पणियों के अन्तर्गत कहानी के रचना-तन्त्र पर नये सिरे से विचार किया और इस तरह 'नयी कहानियाँ' में 'हाशिये पर' स्तम्भ से कहानी के वास्तविक अर्थ को समझने की ठोस प्रक्रिया की शुरुआत हुई।

यह एक साहित्यिक और ऐतिहासिक आवश्यकता है कि कविता और नाटक की तरह कहानी को भी रूढ़ शास्त्रीय मानदण्डों से मुक्त करके उसकी अपनी सत्ता को खोजा जाय और उसकी विश्लेषण-पद्धति और समीक्षा की शब्दावली में अपेक्षित अन्तर लाया जाय। साहित्य के जितने भी रूप हैं उनमें बात भले ही एक ही कही जाये, लेकिन अपने-अपने विधागत वैशिष्ट्य के कारण वस्तु भी विशिष्ट हो जाती है। उदाहरण के लिए आज के सम्पूर्ण साहित्य में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों को लेकर बहुत लिखा गया है लेकिन उपन्यास, नाटक, कहानी, कविता सबमें अलग विशेषताएँ हैं और उनके विभिन्न पहलू हैं। अन्य साहित्यिक रूपों की तरह कहानी भी जीवन को समझने का एक माध्यम है, इसलिए कहानी-सम्बधी सामान्य धारणा को, कहानी-शिल्प-सम्बन्धी आलोचनाओं, प्रचलित रूढ़ियों और फार्मूलों को मुख्य मानकर उनके आधार पर कहानी को फिट करने या मिसफिट करने की दृष्टि ही घातक है। हम कहानी को छः शास्त्रीय तत्वों—कथानक, चरित्र, वातावरण, देश-काल, भाषा-शैली, उद्देश्य—के आधार पर अलग-अलग टुकड़ों में देखने के अभ्यस्त हो गये हैं जबकि यह जानी हुई बात है कि कहानी में अनेक शास्त्रसम्मत मान्यताओं का टूटना प्रेमचन्द के साथ ही शुरू हो गया और 'पूस की रात' और 'कफ़न'-जैसी कहानियों से यह सत्य उद्घाटित होने लगा था कि 'प्रत्येक अनुभूति अथवा कथ्य अपना रूप स्वयं निर्धारित करता है··· ये रूपगत विविधताएँ अनिवार्य हैं' (नेमिचन्द्र जैन)। कहानी को तोड़कर अलग-अलग खानों में रखना हमारी अतिसरलीकरण की प्रवृत्ति है। इसी प्रकार कहानी के 'विषयगत', 'शिल्पगत', 'शैलीगत' वर्गीकरण की परम्परा भी वर्षों से चली आ रही है। कथानक-प्रधान, घटना-प्रधान, चरित्र-प्रधान, भाव-प्रधान, वातावरण-प्रधान या ऐतिहासिक, पौराणिक, मनोवैज्ञानिक कहानी या

वर्णनात्मक, संकेतात्मक, नाट्यात्मक कहानी आदि कहकर हम कहानी को अभ्यस्त ढंग से परिभाषित करते हैं। हम कभी कहानी के शीर्षक की बात करते हैं, कभी कहानी का निष्कर्ष निकालते हैं, कभी उसके आरम्भ, मध्य और अन्त की बात करते हैं, चरमसीमा ढूँढ़ते हैं और हमारी सामान्य टिप्पणियाँ यों हुआ करती हैं—कि 'अमुक कहानी प्रेम-कहानी है', 'कहानी का शीर्षक बहुत अच्छा है', 'कहानी का निचोड़ यह है', 'वातावरण अच्छा है', 'भाषा लाजवाब है, उसमें अरबी, फारसी और बोलचाल के शब्द मिले हुए हैं', 'कथानक बहुत गठा हुआ है', 'अमुक चरित्र बहुत श्रेष्ठ बन पड़ा है' आदि-आदि। ये बहुत चलते हुए निर्णय हैं जिनके पीछे अधूरी और रूढ दृष्टि है। परिणास्वरूप कहानी का जीवन-सत्य, उसका भाव-बोध पीछे छूट जाता है और कहानी पारिभाषिक संज्ञाओं में सीमित होकर रह जाती है। आगे चलकर कहानी के साथ 'प्रभावान्विति', 'एकान्विति', 'लक्ष्य' और 'अनुभूति'-जैसे शब्द-प्रयोग भी जुड़े, लेकिन वे शब्द ही रहे; आलोचकों ने, पाठकों ने कहानी की अनुभूति को एक इकाई के रूप में नहीं देखा। यह धारणा भी भ्रामक है कि कहानी अपने संक्षिप्त रूप में जीवन के एक टुकड़े को लेकर चलती है। कहानी में भी बड़ी बात कही जा सकती है, जिसे नामवरसिंह यों कहते हैं, "कहानी जीवन के टुकड़े में निहित 'अन्तर्विरोध', 'द्वन्द्व', 'संक्रान्ति' अथवा 'क्राइसिस' को पकड़ने की कोशिश करती है और ठीक ढंग से पकड़ में आ जाने पर यह खण्डगत अन्तर्विरोध भी बृहद् अन्तर्विरोध के किसी-न-किसी पहलू का आभास दे जाता है।" छोटी से छोटी कहानी, छोटी से छोटी घटना में भी अर्थ के कई स्तर निहित हो सकते हैं। यह कहानीकार की दृष्टि, संवेदनशीलता और क्षमता पर निर्भर करता है कि वह सामान्य से सामान्य स्थिति या घटना को बहुत छोटी कहानी में भी किस प्रकार गहरा-व्यापक अर्थ दे देता है। 'सेब', 'पहाड़', 'दोपहर का भोजन' क्या किन्हीं खास बड़ी-बड़ी घटनाओं और स्थितियों पर टिकी हुई कहानियाँ हैं ? लेकिन अलग-अलग स्तर पर तीनों अपनी सार्थकता घोषित करती हैं; क्योंकि कहानीकार ने वहाँ जीवन का मर्म, कहानी का सत्य, प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटी पर अनुभव करा दिया है। जाहिर है कि इस तरह की कहानियों का न कोई खास 'विषय' है, न इनका संक्षेप में कोई निचोड़ दिया जा सकता है। अगर पाठक इन्हें प्रचलित मानदण्डों के आधार पर देखेगा भी, तो इन्हें कहानी नहीं कह सकेगा। एक बार 'पहाड़' को कहानी कह भी ले

तो 'सेब' को एक अतिपरिचित सामान्य घटना मानकर आगे चलता बनेगा जबकि वहाँ अर्थगर्भत्व है। जब हम यह मानकर चलते हैं कि 'आज की कहानी अधिक यथार्थ-दृष्टि, प्रामाणिकता और ज़्यादा रचनात्मक ईमानदारी से अपने आस-पास के परिचित परिवेश में ही किसी ऐसे सत्य को पाने का प्रयत्न करती है जो टूटा हुआ, कटा-छँटा या आरोपित नहीं—बल्कि व्यापक सामाजिक सत्य का एक अंग है' (राजेन्द्र यादव), तब क्या जरूरत है कि हम उसे काट-छाँटकर, सुनिश्चित पैमाने से नापकर, आरोपित आग्रहों से तोलकर अच्छा या बुरा कहें? इसलिए सैद्धान्तिक दृष्टि की अपेक्षा कहानी की रचना-प्रक्रिया के महत्त्व पर बल दिया गया और उसके साथ-साथ समीक्षा में निश्चित प्रतिमानों के स्थान पर कहानी की पाठ-प्रक्रिया पर जोर दिया गया। कहानी का मूल्यांकन करते समय पाठक की सतर्कता बहुत आवश्यक है। लेखक की सर्जनात्मक दृष्टि जितनी ज़रूरी है, उतनी ही पाठक द्वारा कहानी की पहचान—कहानी का सर्जनात्मक पाठ, मूल्यांकन और आस्वादन जरूरी है। सबसे पहली चीज है पाठक की 'सहज दृष्टि'—पूर्वनिर्मित धारणाओं—प्रतिमानों से मुक्त दृष्टि। क्योंकि कहानी पढ़ते समय एक रचना पाठक के मन में भी होती चलती है जिनसे वह कथा-सूत्र भी निकाल सकता है और 'प्रभाव' भी ग्रहण कर सकता है, लेकिन आवश्यक है कहानी पढ़ते समय कहानी के साथ, उसकी प्राक्रिया के साथ-साथ गुजरना जिससे कहानी का मूल अधिक से अधिक उसकी पकड़ में आ सके और वह लेखक के साथ-साथ चल सके। तभी कहानी का अन्तरंग विश्लेषण सम्भव हो सकेगा।

कहानी-पाठ का प्रथम चरण है कथानक। कथानक से ही कहानी के प्रभाव की पहली-पहली लकीरें बनती जाती हैं जिनसे पाठक गुज़रता है। पाठक अगर सतर्क नहीं है तो वह केवल कथानक पर ध्यान देगा और तब उसे यह भी लग सकता है कि बहुत-से लेखकों ने एक ही कथानक पर कहानियाँ लिखी हैं। इसलिए वहाँ मुख्य है प्रत्यक्ष अनुभव का सत्य। अनुभव की प्रत्यक्ष गहनता—कहानी की पहली शर्त है—अगर उसे नहीं पहचानेंगे तो पाठक कथानक की विषयवस्तु में भटक सकते हैं। इस प्रत्यक्ष अनुभव को पहचान लेने के साथ ही जरूरी है लेखक की दृष्टि को आत्मसात कर लेना। हर कहानी के पीछे लेखक का अपना दृष्टि-बिन्दु होता है। अगर उसे नहीं पहचानेंगे तो 'दोपहर का भोजन' मात्र यथार्थवादी कहानी लग सकती है, 'गदल' मात्र चरित्र-विशेष की,

नारी-वर्ग की कहानी लग सकती है और 'कफ़न' सिर्फ मानवीय सहानुभूति, या आर्थिक संकट की कहानी लग सकती है जबकि जाहिर है कि लेखक का अभिप्रेत कहानियों में भिन्न-भिन्न स्तर पर कुछ और है और कहीं अधिक, गहरा व्यापक और अनिवार्य सत्य है और वही कहानी का मूल संकेत, मूल बिन्दु है जो उसे 'नया' या 'पुराना' अथवा 'सार्थक' कहलाने का श्रेय देता है। निश्चय ही लेखक के दृष्टि-बिन्दु को पाठ-प्रक्रिया के समय स्वयं पाठक को निश्चित करना है। यहीं उसका दायित्व बढ़ जाता है और सर्जनात्मक दृष्टि की माँग करता है। जब कहानी में प्रत्यक्ष अनुभव की सच्चाई, संवेदना होगी तो चरित्र की सही पकड़ और निर्वाह उसी के साथ आ जाते हैं। जहाँ तक शिल्प का सम्बन्ध है, वह 'सार्थक' कहानी में कहीं अलग या आरोपित नहीं होता। सच्ची कहानी में शिल्प उसके भीतर से ही पैदा होता है और कहानी के अर्थ को और गहरा करता है। 'उसने कहा था' में शिल्प का नयापन होते हुए भी चमत्कार नहीं है, क्योंकि वह कहानी की मूल संवेदना से अलग नहीं है। कहानी में केवल प्रतीकों, बिम्बों, चित्रों, रूपक-अन्योक्तियों पर बहुत बल देना भी ठीक नहीं और न केवल भाषा-संवेदना को ही प्रमुख मान लेना ठीक है। काव्य-समीक्षा में शब्दों का, प्रतीकों-बिम्बों का अधिक महत्त्व हो सकता है लेकिन कहानी में 'आन्तरिक अन्विति' ही मुख्य होती है जो शिल्प, भाषा, यथार्थ की अभिव्यक्ति और सांकेतिकता सबके सामंजस्य से पैदा होती है। इनमें भी कहानी की आन्तरिक उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए सांकेतिकता को कहानी का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाना चाहिए जो कहानीकार की गहन संवेदना से ही पैदा होती है और कहानी के संक्षिप्त रूप को अधिक घना करती है और जिसके कारण एक ही कहानी को बार-बार पढ़ने का अलग सुख होता है। इसलिए स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'कहानी-शिल्प का विकास लेखक की प्रयोग-बुद्धि पर उतना निर्भर नहीं करता, जितना उसके मैटर की आन्तरिक अपेक्षा पर। × × शिल्प के बदलने में लेखक के असन्तोष और मैटर की आन्तरिक अपेक्षा दोनों का ही योग रहेगा' (मोहन राकेश)। इसलिए यह स्पष्ट रहना चाहिए कि कहानी का शिल्प, उसके संकेत कहानी के सहज गठन से स्वतः उभर आते हैं। कहानी का आन्तरिक संगठन ही उसके 'कहानीपन' की पहचान है। इसलिए अन्ततः प्रतिमानों से अधिक महत्त्वपूर्ण सवाल कहानी पढ़ने की पद्धति और पाठक की दृष्टि

के नयेपन का है ताकि कथा-समीक्षा में, कहानी की विश्लेषण-पद्धति में परिवर्तन आ सके और 'नयी' और 'पुरानी' कहानी का निर्णय काल-निर्धारण से नहीं बल्कि लेखक की दृष्टि या उसके युग-बोध के आधार पर किया जा सके।

●

'कफ़न' की ऐतिहासिक नवीनता को पिछले कुछ वर्षों में कथा-समीक्षा के दौरान पहचाना और स्थापित किया गया है। केवल यही नहीं कि वह प्रेमचन्द की सर्वश्रेष्ठ कहानी है या यथार्थवादी परम्परा की कहानी है बल्कि यह कि 'कफ़न' हिन्दी की प्रथम नयी कहानी है, वह पूर्णतः 'आधुनिक' है क्योंकि उसमें न तो प्रेमचन्द का जाना-पहचाना आदर्शोन्मुख यथार्थवाद है, न कथानक-सम्बन्धी पूर्ववर्ती धारणा है, न गढ़े-गढ़ाये इंस्ट्रूमेंटल जैसे पात्र हैं, न कोई परिणति, न चरमसीमा; न छिछली भावुकता और अतिरंजना और न कोई सीधी सम्प्रेष्य वस्तु। वह लेखक के बदले हुए दृष्टिकोण और कहानी की बदली हुई संरचना का ठोस उदाहरण है। कथानकहीनता, यथार्थ की सीधी पकड़ के कारण, नयी कहानी की उपलब्धि है। प्रेमचन्द ने इसमें अपनी आरम्भिक कहानियों की तरह चमत्कार, कौतूहल, घटनाओं के अद्भुत जाल की सृष्टि नहीं की है लेकिन जीवन और जगत के प्रति उनका सारा दृष्टिकोण ही बदला हुआ लगता है जिसमें मानव-जीवन के नितान्त भीतरी रूप का उद्घाटन हुआ है। कहानी घीसू और माधव-जैसे मानव-चरित्रों को नयी सच्चाई के साथ रचती है, साथ ही उन्हीं के माध्यम से वह उस सारे विषम सामाजिक ढाँचे को नंगा कर देती है और मानवीयता पर प्रश्नचिह्न लगा देती है। सारी स्थिति को बड़ी सांकेतिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि बीच-बीच में कहानीकार अपनी ओर से भी कुछ कहता चलता है, फिर भी गहन सांकेतिकता इसे नयी कहानी के निकट पहुँचाती है। कहानी की आन्तरिक उपलब्धियों में सांकेतिकता को एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानते हुए मोहन राकेश जब यह कहते हैं कि "कफ़न इसलिए श्रेष्ठ कहानी नहीं है कि वह एक विशेष क्षेत्र से उठायी गयी है—'आदर्शोन्मुखता' की कसौटी से तो वह 'प्रेमचन्द की परम्परा' की कहानी है ही नहीं—उस कहानी की विशेषता उसके अन्तर्निहित संकेत के कारण है। कहानी के चरित्रों में एक मार्बिडिटी है, परन्तु कहानी का संकेत मार्बिड नहीं है—" तो उन्होंने उसके

नयेपन और वैशिष्ट्य को ही रेखांकित करना चाहा है। वस्तुतः दृष्टि बदलती है, भाव-सत्य बदलता है तो कहानी का शिल्प भी बदलता है, भाषा भी बदलती है। प्रेमचन्द ने 'कफ़न' में कहानी का रूप बदला है, सप्रयास नहीं, वह कहानी के भीतर ही बदला हुआ है। वह अपने परिचित परिवेश में से ही सत्य को पा लेने की एक स्वाभाविक कोशिश है और वह व्यापक सामाजिक सत्य का एक अंग है। उसकी सांकेतिकता, एकान्विति और संश्लिष्टता ही तो कहानी की नयी परिभाषा की माँग करती है। ध्यान देने की बात है कि आज के समीक्षा-जगत में जिस भाषिक सर्जना की जोरों से चर्चा हो रही है, भाषा का वह सर्जनात्मक रूप 'कफ़न' में मौजूद है जो आरम्भ से अन्त तक कहानी में गुँथा हुआ कहानी को नये अर्थ देता चलता है। कहानी की संरचना का वैशिष्ट्य इसमें भी है कि गहरी करुणा, यथार्थ वस्तुस्थिति और क्रमशः बदलती जाती स्वाभाविक मानसिक स्थिति से जुड़ते-जुड़ते वह 'विदूषकत्व' की सीमा पर पहुँच जाती है जिसे डॉ० बच्चनसिंह यों कहते हैं कि "आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि आज की जिन्दगी में जिस विदूषकत्व का प्रवेश देखा जा रहा है उसके तेवर 'कफ़न' में मौजूद हैं। किन्तु इस विदूषकत्व को (जो तथाकथित आलोचकों की दृष्टि में विकृति है) उन्होंने रचनात्मक सन्दर्भ में रखा है जो समूचे समाज को नंगा करते हुए एक अर्थपूर्ण मूल्यदृष्टि को संकेतित करता है।" स्पष्ट है कि 'कफ़न' कहानी अन्तरंग विश्लेषण, सतर्क मूल्यांकन और सघन कलात्मक रचाव की पहचान की माँग करती हुई सिद्ध करती है कि किसी कहानी को केवल कालविचार से 'पुरानी' कहानी घोषित करना भ्रामक है।

●

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' अपने नितान्त नवीन शिल्प, कलात्मक उत्कृष्टता और मानवीय तत्त्व की गहन संवेदना के कारण अपने समय में ही बेजोड़ नहीं समझी गयी, आज भी वह अप्रतिम है। 'उसने कहा था' अपने परिपार्श्व, चरित्र-कल्पना और परिणति में रोमांटिक होते हुए भी यथार्थवादी परम्परा का आरम्भ है। जिस समय हिन्दी कहानी में घटनाओं, संयोग, आकस्मिकता, कौतूहल, रहस्य-रोमांच, चमत्कार का प्रभुत्व था, उस समय गुलेरी जी सहसा बाह्य कार्य-कलापों और कृत्रिम वातवरण से कहानी को भीतर की

ओर ले गये। कहीं न उपदेश, न अतिमानवीयता। यों 'उसने कहा था' में घटनाएँ भी हैं, संयोग भी है और रोमांटिक दृष्टि भी है लेकिन उस सबका संघटन इस वैशिष्ट्य के साथ हुआ है और प्रेम, कर्तव्य और आत्मबलिदान का, प्रेम और कर्तव्य के पारस्परिक संघर्ष का इतना असाधारण और संवेदनात्मक रूप में चित्रण हुआ है कि कहानी नयी हो जाती है। कहानी को यथार्थ के, स्वाभाविकता के निकट ले जानेवाले स्थल हैं—लहनासिंह का अन्तर्द्वन्द्व, अमृतसर के बाजार की लम्बी भूमिका, युद्ध-क्षेत्र का वर्णन। अमृतसर के बाजार का वर्णन जहाँ अपनी स्थानीय बोली के पुट और लहजे के कारण प्रभावपूर्ण है, वहाँ वह कहानी की संवेदना से जुड़ा हुआ भी है। पूरी कहानी एक दृष्टा के दृष्टिकोण से कही गयी है। वातावरण, चरित्र और घटना को ऐसे नाटकीय ढंग से परस्पर जोड़ा गया है कि कहानी की मार्मिकता तो बढ़ी ही है—वह अपनी विशिष्टता से कहानी को वर्गीकृत करके देखने की परम्परा को भी तोड़ती है। इसका प्रबन्ध-कौशल और नाटकीय दृश्यों की शैली इसकी उपलब्धि है। आरम्भ में ही लड़के-लड़की का परिचय—'तेरी कुड़माई हो गयी?' 'धत्'··· 'तेरी कुड़माई हो गयी?' 'हाँ हो गयी···देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' आगे चलकर काफी दूर यह दृश्य कहानी से एकदम कटा हुआ लगता है और युद्ध-क्षेत्र का वर्णन पढ़ते-पढ़ते इस दृश्य की तस्वीर मिटने-सी लगती है कि अनायास ही मृत्यु के क्षणों में लहनासिंह के स्मृति-चित्रों के माध्यम से पच्चीस वर्ष पहले की इस घटना की सारी प्रासंगिकता और सार्थकता कौंधने लगती है और पूरी कहानी अजीब आन्तरिक शृंखला से अकस्मात् ही जुड़ जाती है। समय और स्थान के इतने लम्बे अन्तराल को पूरी तौर पर समेट लेना मात्र नाटकीय कौशल नहीं है, वह एक सार्थक और अत्यन्त कलात्मक कोशिश है—एक क्षण में ही सारा अन्तराल सिमटकर कहानी को विलक्षण भूमि पर पहुँचा देता है। 'भावों की टकराहट से मूर्च्छा खुली'—लहनासिंह की ही नहीं, पाठकों की भी। लहनासिंह के अन्तर्द्वन्द्व को अन्त में जिस तरह कम से कम शब्दों में बिना अतिरिक्त भावुकता के, गहन संकेतों में व्यक्त किया गया है, उसी तरह आरम्भ में भी लड़की से यह सुनकर कि, 'हाँ, हो गयी, देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू' लड़के का रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल देना, एक छावड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खो देना,

कुत्ते पर पत्थर मारना, गोभीवाले के ठेले में दूध उँड़ेल देना और सामने नहा-कर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाना—ये सब उसकी मानसिक स्थिति को, क्षोभ और तनाव को बड़ी ही नाटकीय क्रिया-शीलता में और अद्भुत सांकेतिक शैली में व्यक्त करते हैं। युद्ध-क्षेत्र का वर्णन भी वर्णन के लिए नहीं है बल्कि वह भी कहानी के मूल भाव प्रेम, त्याग-बलिदान को अधिक गहराता है, विदेश की कठिन परिस्थितियों के बीच प्रेम और अधिक उदात्त रूप में प्रतिष्ठित होता है। इसके अतिरिक्त 'नाटकीयता, स्थानिक रंग, रंगीन सेटिंग, जीवन्त वर्णन, फ्लैशबैक, स्वप्न आदि को कहानी में समाविष्ट करने का पहला श्रेय उन्हीं को (गुलेरीजी को) है' (डॉ० बच्चनसिंह)। भाषा की स्फूर्ति और शक्ति की पूरी पहचान गुलेरीजी को है। लक्षणा और व्यंजना-शक्ति का उन्होंने खूब उपयोग किया है। माधुर्य और चांचल्य, विषाद और गाम्भीर्य का संगुम्फन इस कहानी के गठन और कसाव को स्पष्ट करता है। 'उसने कहा था' गुलेरीजी की कथा-निर्माण-शैली की मौलिकता का प्रतीक है।

●

'आकाश-दीप' प्रसाद की प्रमुख कहानियों में से एक और हिन्दी कहानी की एक भिन्न परम्परा की सशक्त सृष्टि है जिसे प्रेमचन्द की यथार्थपरक कहा-नियों से अलग भावपरक प्रवृत्ति कहा गया। प्रसाद की कहानियाँ प्रसाद के छायावादी कवि-व्यक्तित्व और नाटककार के व्यक्तित्व के समन्वित सौन्दर्य की कहानियाँ हैं। 'आकाश-दीप' इस सन्तुलित समन्वय का श्रेष्ठ उदाहरण है। उसमें कथा-तत्त्व प्रमुख नहीं है, मुख्य है भाव-तत्त्व। किसी एक भावभूमि पर टिकी हुई उनकी कहानी मनुष्य के अन्तर्जगत से, उसकी चित्तवृत्ति और सूक्ष्मतम मनोदशाओं से हमारा साक्षात्कार कराती है। 'आकाश-दीप' भी बहि-र्लोक की नहीं, हमारे भाव-लोक की उदात्त कल्पना है। प्रसाद की इस भाव-भूमि की कहानियों का मूल केन्द्र है : प्रेम। सौन्दर्य और प्रेम उनकी प्रेरक शक्ति हैं। 'आकाश-दीप' में प्रेम वर्तमान की अतृप्ति बनकर सूक्ष्म धरातल पर प्रस्तुत हुआ है। प्रेम से अधिक उसकी मूल आधारभूमि है मन का गहन अन्तर्द्वन्द्व—प्रेम और घृणा के बीच द्वन्द्व। 'मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु! तुम्हें प्यार करती हूँ।' कहानी इसी द्वन्द्व

ओर ले गये। कहीं न उपदेश, न अतिमानवीयता। यों 'उसने कहा था' में घटनाएँ भी हैं, संयोग भी है और रोमांटिक दृष्टि भी है लेकिन उस सबका संघटन इस वैशिष्ट्य के साथ हुआ है और प्रेम, कर्तव्य और आत्मबलिदान का, प्रेम और कर्तव्य के पारस्परिक संघर्ष का इतना असाधारण और संवेदनात्मक रूप में चित्रण हुआ है कि कहानी नयी हो जाती है। कहानी को यथार्थ के, स्वाभाविकता के निकट ले जानेवाले स्थल हैं—लहनासिंह का अन्तर्द्वन्द्व, अमृतसर के बाजार की लम्बी भूमिका, युद्ध-क्षेत्र का वर्णन। अमृतसर के बाजार का वर्णन जहाँ अपनी स्थानीय बोली के पुट और लहजे के कारण प्रभावपूर्ण है, वहाँ वह कहानी की संवेदना से जुड़ा हुआ भी है। पूरी कहानी एक दृष्टा के दृष्टिकोण से कही गयी है। वातावरण, चरित्र और घटना को ऐसे नाटकीय ढंग से परस्पर जोड़ा गया है कि कहानी की मार्मिकता तो बढ़ी ही है—वह अपनी विशिष्टता से कहानी को वर्गीकृत करके देखने की परम्परा को भी तोड़ती है। इसका प्रबन्ध-कौशल और नाटकीय दृश्यों की शैली इसकी उपलब्धि है। आरम्भ में ही लड़के-लड़की का परिचय—'तेरी कुड़माई हो गयी ?' 'धत्'··· 'तेरी कुड़माई हो गयी ?' 'हाँ हो गयी···देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' आगे चलकर काफी दूर यह दृश्य कहानी से एकदम कटा हुआ लगता है और युद्ध-क्षेत्र का वर्णन पढ़ते-पढ़ते इस दृश्य की तस्वीर मिटने-सी लगती है कि अनायास ही मृत्यु के क्षणों में लहनासिंह के स्मृति-चित्रों के माध्यम से पच्चीस वर्ष पहले की इस घटना की सारी प्रासंगिकता और सार्थकता कौंधने लगती है और पूरी कहानी अजीब आन्तरिक शृंखला से अकस्मात् ही जुड़ जाती है। समय और स्थान के इतने लम्बे अन्तराल को पूरी तौर पर समेट लेना मात्र नाटकीय कौशल नहीं है, वह एक सार्थक और अत्यन्त कलात्मक कोशिश है—एक क्षण में ही सारा अन्तराल सिमटकर कहानी को विलक्षण भूमि पर पहुँचा देता है। 'भावों की टकराहट से मूर्च्छा खुली'—लहनासिंह की ही नहीं, पाठकों की भी। लहनासिंह के अन्तर्द्वन्द्व को अन्त में जिस तरह कम से कम शब्दों में बिना अतिरिक्त भावुकता के, गहन संकेतों में व्यक्त किया गया है, उसी तरह आरम्भ में भी लड़की से यह सुनकर कि, 'हाँ, हो गयी, देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू' लड़के का रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल देना, एक छावड़ीवाले की दिन-भर की कमाई खो देना,

कुत्ते पर पत्थर मारना, गोभीवाले के ठेले में दूध उँड़ेल देना और सामने नहा-कर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाना—ये सब उसकी मानसिक स्थिति को, क्षोभ और तनाव को बड़ी ही नाटकीय क्रिया-शीलता में और अद्भुत सांकेतिक शैली में व्यक्त करते हैं। युद्ध-क्षेत्र का वर्णन भी वर्णन के लिए नहीं है बल्कि वह भी कहानी के मूल भाव प्रेम, त्याग-बलिदान को अधिक गहराता है, विदेश की कठिन परिस्थितियों के बीच प्रेम और अधिक उदात्त रूप में प्रतिष्ठित होता है। इसके अतिरिक्त 'नाटकीयता, स्थानिक रंग, रंगीन सेटिंग, जीवन्त वर्णन, फ्लैशबैक, स्वप्न आदि को कहानी में समाविष्ट करने का पहला श्रेय उन्हीं को (गुलेरीजी को) है' (डॉ० बच्चनसिंह)। भाषा की स्फूर्ति और शक्ति की पूरी पहचान गुलेरीजी को है। लक्षणा और व्यंजना-शक्ति का उन्होंने खूब उपयोग किया है। माधुर्य और चांचल्य, विषाद और गाम्भीर्य का संगुम्फन इस कहानी के गठन और कसाव को स्पष्ट करता है। 'उसने कहा था' गुलेरीजी की कथा-निर्माण-शैली की मौलिकता का प्रतीक है।

●

'आकाश-दीप' प्रसाद की प्रमुख कहानियों में से एक और हिन्दी कहानी की एक भिन्न परम्परा की सशक्त सृष्टि है जिसे प्रेमचन्द की यथार्थपरक कहा-नियों से अलग भावपरक प्रवृत्ति कहा गया। प्रसाद की कहानियाँ प्रसाद के छायावादी कवि-व्यक्तित्व और नाटककार के व्यक्तित्व के समन्वित सौन्दर्य की कहानियाँ हैं। 'आकाश-दीप' इस सन्तुलित समन्वय का श्रेष्ठ उदाहरण है। उसमें कथा-तत्त्व प्रमुख नहीं है, मुख्य है भाव-तत्त्व। किसी एक भावभूमि पर टिकी हुई उनकी कहानी मनुष्य के अन्तर्जगत से, उसकी चित्तवृत्ति और सूक्ष्मतम मनोदशाओं से हमारा साक्षात्कार कराती है। 'आकाश-दीप' भी बहि-र्लोक की नहीं, हमारे भाव-लोक की उदात्त कल्पना है। प्रसाद की इस भाव-भूमि की कहानियों का मूल केन्द्र है : प्रेम। सौन्दर्य और प्रेम उनकी प्रेरक शक्ति हैं। 'आकाश-दीप' में प्रेम वर्तमान की अतृप्ति बनकर सूक्ष्म धरातल पर प्रस्तुत हुआ है। प्रेम से अधिक उसकी मूल आधारभूमि है मन का गहन अन्तर्द्वन्द्व—प्रेम और घृणा के बीच द्वन्द्व। 'मैं तुम्हें घृणा करती हूँ, फिर भी तुम्हारे लिए मर सकती हूँ। अन्धेर है जलदस्यु! तुम्हें प्यार करती हूँ।' कहानी इसी द्वन्द्व

पर टिकी है । ऐसी कहानियों में प्रसाद ने जहाँ द्वन्द्व की आन्तरिक रेखाओं को कुशलता से उभारा है, वहीं प्रेम का उदात्तीकरण भी कर दिया है—प्रेम की अन्ततः वही विकास-भूमि प्रत्यक्ष है, जहाँ 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना पहुँचती है। उसी की पूर्व-स्थिति या देवसेना की उस मनोभूमि की उच्चता का आभास क्या चम्पा में नहीं मिलता ? 'बुद्धगुप्त ! मेरे लिए सब भूमि मिट्टी है, सब जल तरल है, सब पवन शीतल है । कोई विशेष आकांक्षा हृदय में अग्नि के समान प्रज्ज्वलित नहीं । सब मिलाकर मेरे लिए एक शून्य है । प्रिय नाविक ! तुम स्वदेश लौट जाओ, विभवों का सुख भोगने के लिए और मुझे छोड़ दो इन निरीह भोले-भाले प्राणियों के दुःख की सहानुभूति और सेवा के लिए ।' यहीं से एक बात और स्पष्ट होती है कि प्रसाद के पात्र—नारी पात्र—असामान्य हैं। पात्रों को यह निजता प्रसाद द्वारा पहली बार मिली । 'आकाश-दीप' की चम्पा का ज्वलन्त, तेजोमय, दृढ़, स्पष्ट व्यक्तित्व पूरी कहानी में बुद्धगुप्त पर छाया हुआ लगता है । चम्पा की तुलना में बुद्धगुप्त निरीह, भावुक, दुर्बल लगता है। फिर भी प्रसाद की आरम्भिक कई कहानियों के पुरुष पात्रों की तुलना में बुद्ध-गुप्त को कुछ व्यक्तित्व मिला है । जहाँ तक शिल्प का सम्बन्ध है, शिल्प प्रसाद की कहानियों में कभी प्रधान नहीं रहा है, लेकिन कहानी की भावभूमि के अनु-रूप ही उनका शिल्प अपने-आप ढला है। रसानुभूति, काव्यात्मक वैभव, प्रगीतात्मकता जहाँ अपने रस में भिगोती चलती है, वहीं कहानी में पात्रों की आन्तरिक दशा से मेल खाता हुआ सारा प्राकृतिक वातावरण भी साथ-साथ चलता है बल्कि कहीं-कहीं वातावरण भी मनःस्थिति को पाठक के सामने खोलता चलता है । इस कहानी की संरचना में मुख्य सौन्दर्य है इसके नाटकीय आरम्भ का और संवाद-कौशल का । आरम्भिक संवादों में जो क्षिप्रता है, नाटकीय वाता-वरण है, स्थिति की सूचना है, पात्रों का, उनकी परिस्थिति का परिचय है, जो आकस्मिक गति के बाद अनायास ही एक झटका है और एक रहस्य या संकट का संकेत है; इन सबकी बड़ी सघन बुनावट वहाँ दृष्टव्य है । आश्चर्य है कि जिस कहानी का आरम्भ इतनी सूक्ष्म सांकेतिकता और कलात्मकता से बुना हुआ है, उसका अन्त इतना स्पष्ट, स्थूल और उपसंहारात्मक क्यों है ? कहानी तो वहीं समाप्त हो जानी चाहिए थी, जहाँ चम्पा कहती है, 'किन्तु देखती हूँ, मुझे भी इसी में जलना होगा । जैसे आकाश-दीप !'

'पत्नी' जैनेन्द्र की प्रतिनिधि कहानी है जो हिन्दी कहानी के विकास-क्रम में जैनेन्द्र की विशेषताओं-नवीनताओं को सामने लाती है। यों प्रेमचन्द के समय से ही हिन्दी कहानी में वस्तुगत-शिल्पगत नये प्रयोग शुरू हो गये थे और प्रेमचन्द और प्रसाद की कहानियों से ही मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक धरातल ने जन्म ले लिया था, लेकिन जैनेन्द्र ने और भी गहरे पैठकर मनोवैज्ञानिकता को भिन्न धरातलों पर उठाया। 'पत्नी' में ही जैनेन्द्र ने पत्नी की सहज-स्वाभाविक आवश्यकताओं, स्वभाव और भारतीय परिवेश से जन्मे संस्कारों को पहचानते हुए भी गहराई में जाकर उसके मन की सूक्ष्म स्थितियों को, विरोधों और कोमलता को बिना किसी अनावश्यक विस्तार या उलझाव के अपनी अन्तर्दृष्टि से उजागर किया है। वस्तुतः जैनेन्द्र की कहानियों में बुद्धि और हृदय का अद्भुत समन्वय रहता है, चिन्तन की एक धारा रहती है, इसलिए कहानी मनोवैज्ञानिक होते हुए भी—स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते हुए भी, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता, जटिलता और रहस्य के उलझनों से युक्त होते हुए भी, बोझिल या अस्पष्ट नहीं होती। इसीलिए 'पत्नी' में सहृदयता है, कलात्मक पकड़ है, मनोविज्ञान के शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रदर्शन का आग्रह वहाँ नहीं हैं। जैनेन्द्र की इस प्रकार की सभी कहानियों में कथा-तत्त्व मुख्य नहीं होता, एक-दो पात्रों की उपस्थिति से ही कहानी रच ली जाती है और किसी भी साधारण-असाधारण परिस्थिति में विशिष्ट पात्र की मानसिक स्थिति मुख्य हो जाती है। 'पत्नी' कहानी साधारण परिस्थिति से आरम्भ होकर सुनन्दा के मानसिक ऊहापोह में केन्द्रित हो जाती है। सुनन्दा वर्गगत या जातिगत व्यक्तित्व की इकाई है जो एक ओर समर्पिता, पति-परायणा, सामाजिक मर्यादाओं में बँधी भारतीय नारी भी है, अपनी रोजाना की दिनचर्या से बँधी मूक भारतीय पत्नी भी है, लेकिन दूसरी ओर जीवन की नीरसता उसे असन्तोष की भीतरी छटपटाहट से भर देती है। 'वह अनायास भाव से पति के साथ रहती है और कभी उनकी राह के बीच में आने को नहीं सोचती', लेकिन दूसरी ओर वह पति द्वारा मित्रों के बीच बैठकर की गयी बातों को सुनना-समझना भी चाहती है कि भारत माता को स्वन्तत्र कराना होगा। इन बातों में पति का जोश उसकी समझ में नहीं आता। उत्साह उसके लिए अपरिचित है। असन्तोष और सेवा-भाव, विद्रोह और प्रेम-कर्त्तव्य भाव को कहानी में कार्यों

और संकेतों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। कालिन्दीचरण के अनेक प्रश्नों के उत्तर में सुनन्दा का निरन्तर कठोर मौन और व्यवहार सबकुछ कह जाता है। अपने दल में विवेक का प्रतिनिधि कालिन्दी ही पत्नी पर उत्ताप से उबल पड़ता है और पहले आतंक का विरोध करनेवाला कालिन्दी पत्नी के मौन को असह्य पाकर महसूस करने लगता है कि आतंक ज़रूरी भी है। स्थितियों का यह ताल-मेल और संकेत कहानी का सौन्दर्य है। कहानी में जैनेन्द्र घटना के सत्य को महत्त्व देते भी नहीं। उनके अनुसार "कहानी इतिवृत्त ही तो है। यानी उसमें स्थिति से स्थित्यन्तर अर्थात् जीवन-गति होनी चाहिए। काल का कुछ स्पन्दन, कुछ तनाव अनुभव हो, वही तो कहानी का रस है।" 'पत्नी' की सार्थकता स्थिति और गति के द्वन्द्व में है। पूरी कहानी स्थूल उपादानों का आश्रय न लेकर भाव, अनुभूति, मन:स्थिति और मनोवैज्ञानिक सत्य को ही व्यक्त करती है। शिल्प वहाँ स्वत: घटित होता है। "टेकनीक तो अपने-आप ही जन्म लेती है। उसके लिए खास प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कहानी-लेखक किसी घटना को, सत्य को या भाव को अनुभव करता और सहसा उसे पकड़ लेता है—वह उसके मन में पैठ जाता है। बस, इसी बिन्दु से कहानी शुरू हुई और अपने-आप ही बढ़ती गयी। जहाँ खत्म होना है, वहीं खत्म हो गयी" (जैनेन्द्र)। जाहिर है कि 'पत्नी' कहानी की संरचना में कहानीकार के इस कथन की सच्चाई पूरी तरह लक्षित होती है। 'पत्नी' जैनेन्द्र के सम्पूर्ण व्यक्तित्व और स्थापनाओं को स्पष्ट करती हुई हिन्दी कहानी के उत्कर्ष-काल की महत्त्वपूर्ण रचना है, जो हिन्दी कहानी के एक नये मोड़ को रेखांकित करती है।

●

अज्ञेय की 'गैंग्रीन' 'कफ़न' से आगे मनोविज्ञान के धरातल पर गहरे पैठकर लिखी गयी मार्मिक कहानी है। उसमें आज की कहानी की नवीनता और सन्दर्भ का नयापन है। 'गैंग्रीन' में प्रयोगधर्मी का 'अहं' कहीं दखल देता नहीं लगता। संश्लिष्टता, सांकेतिकता और सहजता में अपूर्व यह कहानी एक ऐसी समग्र रचना है जिसमें मध्यवर्ग की एकरसता को अपने समग्र रूप में लिया गया है। उस एकरसता को व्यक्ति के माध्यम से, मध्यवर्ग की विवश नारी—मालती—के यन्त्रवत् जीवन के छोटे-छोटे दिन-प्रतिदिन के चित्रों से

प्रस्तुत किया गया है। कहानी का आरम्भ ही 'दोपहर में घर के सूने आँगन' में मँडराते अकथ्य, अस्पृश्य और बोझिल वातावरण से होता है। फिर उस व्याप्त एकरसता को पूरे परिवेश, फ्लैशबैक, बिम्ब और प्रतीक के माध्यम से कहानी में प्रस्तुत किया गया है। नितान्त घरेलू वातावरण, मालती की उदासीनता, उत्साहहीनता, झुँझलाहट और सहसा आकस्मिक मौन—सब उस एकरसता को महसूस कराते चलते हैं। देर से खाना खाने पर 'मेरे लिए तो यह नयी बात नहीं है, रोज़ ही ऐसा होता है', पानी न आने पर 'रोज़ ही होता है। कभी वक्त पर आता ही नहीं।' बार-बार थकी साँस लेकर यन्त्रवत् 'तीन बज गये…', 'चार बज गये' कहना, पुराने अखबार के टुकड़े को पढ़ना और लम्बी साँस खींचकर फेंक देना; यहाँ तक कि बच्चे के चारपाई से गिर जाने पर भी मालती का यह कहना कि 'इसको चोटें लगती ही रहती हैं, रोज़ ही गिर पड़ता है' आदि स्थल उस कुटुम्ब में, 'जीवन के पहले ही यौवन में घुन की तरह लग गयी भयंकर छाया' का संकेत कर जाते हैं और बड़े नाटकीय ढंग से उस एकरस वातावरण को बुनते चले जाते हैं। कहीं कोई फालतू शब्द नहीं है, न विशेषणों का अनावश्यक प्रयोग। बल्कि फिल्म की तरह विभिन्न शॉट्स हैं। मन को अभिभूत कर देनेवाली गहरी उदासी को बड़े ही सजीव मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह कलात्मकता अनुभूति और अभिव्यक्ति की सच्चाई से विकसित है। 'गैंग्रीन' मध्यवर्गीय जीवन की एकरसता का सटीक प्रतीक है। माहेश्वर गैंग्रीन का ऑपरेशन करके लौटे हैं। हर तीसरे-चौथे दिन उसके केस उन्हें मिल जाते हैं, लेकिन घर के अन्दर वही गैंग्रीन (एकरसता) मुँह फैलाये है। यह विरोधाभास बड़े सांकेतिक ढंग से स्वाभाविक बातचीत में उभरा है। माहेश्वर का यह कहना कि 'न काटें तो उसकी जान गँवायें' और उत्तर में मालती का कहना कि 'आज तक तो सुना नहीं था कि काँटों के चुभने से लोग मर जाते हों'—सब बड़ा सांकेतिक है। कहानी की प्रमुख विशेषता एकरसता को संरचनात्मक स्तर पर चित्रित करने में ही है। वह कहानी का निष्कर्ष नहीं है, वह पूरी कहानी में व्याप्त है। इसलिए कहानी को उसके समग्र रूप में ही ग्रहण करने की आवश्यकता है। यह दूसरी बात है कि अज्ञेय इस कहानी में 'स्थिति-विशेष के स्वीकार मात्र' तक पहुँचे हैं, नयी कहानी की संवेदना इससे और आगे की—'स्थिति के प्रति सचेतनता और सक्रियता की'—है, लेकिन

'गैंग्रीन' में स्थिति का स्वीकार सम्भवतः मध्यवर्गीय जीवन की नियति है। 'गैंग्रीन' में अर्थगर्भत्व है। उसकी आन्तरिक संगति, रचनात्मक संश्लिष्टता और मनोवैज्ञानिक पकड़ हिन्दी कहानी का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। उसमें सामाजिक सन्दर्भ और व्यक्ति-चरित्र की गहन संवेदना दोनों हैं, लेकिन सन्दर्भ केवल क्षीण आधारभूमि है।

●

'गदल' रांगेय राघव की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और हिन्दी कथा-जगत की प्रसिद्ध कहानी है, जो कभी नारी-हृदय को टटोलनेवाली और एक नारी-व्यक्तित्व की समूची रेखाएँ खींचने के कारण रेखाचित्र-जैसी और कभी अपनी संवादात्मकता, क्रियाशीलता और तीव्रता में पूरे नाटक-जैसी प्रतीत होती है। हिन्दी कहानी में यह उस ऐतिहासिक परिवर्तन की पहचान का उदाहरण है, जबकि पूरी-की-पूरी पीढ़ी जीवन के किसी फार्मूले या घटनाओं को छोड़कर जीते-जागते आदमी के जीवन्त चरित्रों की ओर बढ़ी। 'गदल' का वातावरण यथार्थवादी है। उसमें आस्था भी है, नये मूल्य भी हैं। गदल का नारी रूप में अत्यन्त दृढ़, ज्वलन्त, संघर्षशील व्यक्तित्व असामान्य नहीं है। उसमें जितना विद्रोह है, उतनी ही प्रेम की स्निग्धता, तरलता भी है और फिर भी वह स्वाभाविक है, यथार्थ है। 'मैं किसी की आसरतू नहीं हूँ', 'जगहँसाई से मैं नहीं डरती देवर', 'तू मुझे घर रखकर नहीं बसा सकता था। तूने मुझे पेट के लिए पराई ड्योढ़ी लँघवायी।...ऐसी बाँदी नहीं हूँ कि मेरी कुहनी बजे, औरों की बिछिया छनके। मैं तो पेट तब भरूँगी जब पेट का मोल कर लूँगी'—ये गदल के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग हैं और कहानी को आधुनिक संवेदना के निकट पहुँचानेवाले हैं। कहानी नये मूल्यों की खोज की ओर जाती लगती है। इस प्रकार 'गदल' में भी आधुनिक संवेदना को 'समष्टि-सत्य के धरातल पर' पकड़ा गया है। कहानी का दुर्बल पक्ष केवल उसका अन्त है। कहानी अन्त में इतनी अतिनाटकीय हो जाती है कि उसका यथार्थवादी वातावरण टूटता हुआ-सा लगता है। कहानी का अन्त उसे भावुकता की ओर ले जाता है। "कभी-कभी 'थ्रिल' का मोह ऐसे चरित्रों को एक अस्वाभाविक परिणति की ओर ले जाता है" (शिव प्रसाद सिंह), अवश्य ही 'गदल'-जैसी श्रेष्ठ कहानी में

यह दोष है, लेकिन फिर भी वह हमारे जातीय साहित्य की अमूल्य निधि है, क्योंकि उसका मुख्य पात्र गदल सच्ची, समर्थ, आत्मवान और अपने आगे अनेक नागरिक चेहरों को फीका कर देनेवाली है। इस प्रकार की कहानियाँ पिछड़ी हुई उपेक्षित जातियों के अध्ययन और आदिम तथा आधुनिक संस्कारों और परिवर्तनों को समझने में सहायक हैं।

●

'तीसरी कसम' और 'रसप्रिया' की तरह 'लाल पान की बेगम' रेणु की संवेदनपूर्ण कहानी है। रेणु अंचल से वस्तु-क्षेत्र, भाषा, संवेदना का वह वैशिष्ट्य लेकर आये जिसे स्वतन्त्रता के बाद आंचलिक कहानी के नाम से जाना गया। आंचलिक कहानी नयी कहानी की ही एक धारा है। "आंचलिक वे ही कहानियाँ कही जा सकती हैं जो किसी जनपद के जीवन, रहन-सहन, भाषा-मुहावरे, रूढ़ियों-अन्धविश्वासों, पर्व-उत्सव, लोकजीवन, गीत-नृत्य आदि को चित्रित करना ही अपना मुख्य उद्देश्य मानें। आंचलिक तत्त्व ही उनके साध्य होते हैं।" 'लाल पान की बेगम' में क्षेत्र-विशेष की एक स्वाभाविक मन:स्थिति को उन्हीं की भाषा में, उन्हीं के लहजे और मुहावरों में अनुरूप शिल्प के सहारे चित्रित किया गया है—कोई समस्या, कोई पेचीदा परिवर्तन इसमें नहीं है, केवल रसभीना, मीठा वातावरण और संवेदन एवं निरीक्षण की अद्भुत शक्ति है जो रेणु की अपनी पहचान है। प्रेमचन्द ने ग्राम्य-जीवन के प्रति सहानुभूति लेकर कथा-रचना की थी, रेणु ग्राम्य-जीवन विशेषकर अंचल-विशेष के जीवन की विविध समस्याओं, अनेक पहलुओं को बड़ी तन्मयता और तादात्म्य के साथ हिन्दी कहानी में लाये। 'लाल पान की बेगम' में आंचलिक जीवन अपने पूरे परिवेश के साथ घने रागात्मक रूप में मानवीय संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत है जो कहानी में आद्यन्त रसा-बसा है। वह प्रामाणिक और रागात्मक अभिव्यक्ति है—इसमें आंचलिक कहानी की विशेषताएँ भी हैं और आन्तरिकता-तन्मयता भी। कहानी में तथ्य महत्त्वपूर्ण नहीं है, प्रमुख है उसका जातीय परिवेश और उसका बोध—उद्दाम जिजीविषा, जनजीवन के अनछुये आत्मीय संस्पर्श। उस जीवन की अनोखी अकुलाहट कहानी के अन्त तक छा जाती है। रोमांटिक यथार्थ का चटकीला रंग कहानी का प्राण है।

'बलरामपुर के नाच का दिन, आँगन की धूप, पनभरनियों की खिलखिलाहट, मीठी रोटी, बैलों की घण्टियाँ, धान की बालियाँ, मीठा गमकता चावल, रूपा का मँगटिक्का, गौने की साड़ी से कड़वे तेल और लठवा सिंदूर की आती गन्ध—ये सब जहाँ पूरे अंचल को प्रत्यक्ष करते हैं, वहीं निरीक्षण-शक्ति और मानवीय दृष्टि को भी। कहानी का विशेष सौन्दर्य उसकी मोहक भाषा, स्थिति की चित्रण-क्षमता में है। लगता है जैसे कहानी में कला के अन्य रूप घुल-मिल गये हैं। रेणु के चित्र—ध्वनि-चित्र, शब्द-चित्र, रेखाचित्र—अलौकिक हैं। चित्रकला के साथ-साथ संगीत भी उसमें है—इसीलिए वह कहानी कम, चित्र और जीवन का अनुपम राग अधिक है। 'लाल पान की बेगम' में कोई बँधी-बँधाई कथा नहीं है—बिखरे-बिखरे अनुभव हैं, बहुत-से पात्र हैं, अनेक छोटे-छोटे भाव-चित्र हैं और आकर्षक दृश्यों की भरमार है, लेकिन सब मिलकर अन्त में मूल संवेदना को ही रूपायित करते हैं—इसलिए कहानी में मुख्य हो जाती है रेणु की निर्वाह-शक्ति। इस तरह की कहानी शास्त्रीय तत्त्वों के अलगाव की धारणा को नष्ट करती है और उनके संश्लिष्ट संयोजन को ही प्रत्यक्ष कर जाती है।

●

धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो' नयी कहानी के प्रारम्भिक विकास के दौर की कहानी है, जो हिन्दी कहानी की एक उल्लेख्य रचना है और जिसमें आधुनिक संवेदना को समष्टि-सत्य के धरातल पर पकड़ा गया है। 'गुलकी बन्नो' मानवीय संवेदना को गहरा अर्थ देती है। यद्यपि वह एक चरित्र के इर्द-गिर्द घूमती है, लेकिन उस चरित्र को अनुभवी दृष्टि से परिस्थितियों के भीतर से ही सजीव चित्रित किया गया है। कहानी का पूरा परिवेश, सभी लोग—घेंघा बुआ, सती, मुन्ना की माँ, गुलकी का पति, ड्राइवर साहब यहाँ तक कि मिरवा, मटकी, मुन्ना सभी सच्चे सहज हैं। गहरी संवेदनशीलता और अन्तर्दृष्टि से, एक-एक पात्र की मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सही स्थिति का, रूप-रेखाओं, हाव-भाव-मुद्राओं का, बोलने के लहजे का अंकन कहानी को 'नाटकीय क्षणों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति' बना जाता है। 'गुलकी बन्नो' 'गल्प में सत्य-बोध का साक्षात्कार' करानेवाली परिपक्व रचना है। यह कहानी 'मूल्यों

के लिए संघर्ष' की भूमि से उठी है। वह इस गलित, मूल्यहीन समाज में व्यक्ति के संघर्ष, पराजय, दैन्य और स्वीकार का संकेत करती है। गुलकी का कुबड़ापन जैसे उसकी टूटन और पराजय का ही घनीभूत रूप है जो इस समाज की कुरूपता और असानवीयता का भी निरन्तर संकेत करता है। उसी प्रकार गुलकी के नीरस जीवन में अगर कहीं कुछ ध्वनि, लय, कम्पन है भी तो मिरवा और मटकी के गाने के कारण, जो अपने गाने पर उससे पैसा पाते हैं। यह कहानीकार की खूबी है कि केन्द्र में गुलकी के होते हुए भी सभी पात्र (यहाँ तक कि झबरी कुतिया भी) अपनी विशिष्टताओं में पूरे-पूरे उभरे हैं और सब मिलकर उस अनुभूति और सत्य को अत्यन्त बेधक और मार्मिक रूप में प्रस्तुत करते हैं जो कहानी का अपेक्षित सन्दर्भ है। अनुभूति की सघनता ने छोटे-छोटे दृश्यों को गम्भीर अर्थ दिया है—चाहे वह बच्चों का जुलूस हो या बच्चों का कुबड़ी का खेल, या उनका गाना या घेंघा बुआ का कूड़ा फेंकने का प्रसंग; ये सब निष्ठुर समाज की स्वार्थपरता, मनुष्य से खिलवाड़ की प्रवृत्ति को और गुलकी की मर्मभेदी करुणा को प्रस्तुत करते हैं—यही इनकी सार्थकता है। बिना किसी शिल्पविशेष के दाँवपेंच के कहानी अपनी ध्वनियों से, व्यंजनाओं से, आकर्षक दृश्य-संयोजन से कहानी के मूल स्वर करुणा को साथ-साथ लेती चलती है—कहानी का अन्त केवल करुणा, गुलकी की एकनिष्ठता पर होता है। 'बन्नो डाले दुपट्टे का पल्ला मुहल्ले से चली गयी राम'—हर लड़की की विदा पर गाया जानेवाला यह गीत इस समय कुछ और ही अर्थ दे जाता है और करुणा को घनीभूत कर जाता है। "भारती के सारे चरित्र एक अजीब किस्म की आत्मपीड़ा (मेसॉकिस्टिक) ग्रन्थि के शिकार कहे गये हैं। इनका भीतरी संसार अत्यन्त भावुकता से निर्मित है और एक विलक्षण स्वीकार और अस्वीकार से वे ग्रस्त हैं।" (धनंजय वर्मा)। जाहिर है कि यही स्थिति गुलकी की भी है। वह न पूरी तरह कहीं जुड़ पाती है, न कट पाती है। परित्यक्ता और तिरस्कृता होने पर भी गुलकी की वापसी में अन्ततः समर्पण, नैराश्य, पराजय और आत्मदैन्य ही है। वस्तुतः भारती का सम्पूर्ण साहित्य उनके रूमानी संस्कारों को अभिव्यक्ति देता हुआ उनकी सौन्दर्यानुभूति और उनकी दृष्टि को—एप्रोच को एक जैसे रूप में बराबर संकेतित करता है। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास सबमें उनका व्यक्तित्व प्रसाद की तरह एक जैसा है।

'इसलिए वह जितना समसामयिक है, उतना आधुनिक नहीं।' लेकिन 'गुलकी बन्नो' अपनी भाषा में बोली के पुट के कारण, गहरे संवेदनशील निरीक्षण से जन्मे पात्रों के अंकन के कारण, प्रेम की आदिम अनिवार्य प्यास के कारण और नितान्त स्वाभाविक लेकिन व्यंजक दृश्य-चित्रों की संयोजना के कारण अपनी सांकेतिकता और नाटकीयता में प्रभावशाली रचना है। उसकी करुणा और कलात्मक सार्थकता असन्दिग्ध है।

●

'दोपहर का भोजन' के कथाकार अमरकान्त सहज मानवीय संवेदना और अन्तर्दृष्टि के कथाकार हैं, जिन्होंने प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा को नये रूप में विकसित किया है। अमरकान्त की कहानियों में 'मध्यवर्ग की विरस असाधारणता' को एक लम्बे समय के बाद इतनी संवेदनात्मक अभिव्यक्ति मिली। 'दोपहर का भोजन' मानवीय वास्तविकता की कहानी है और उसी के द्वारा वह अपने युग को प्रत्यक्ष करती है। युग-परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ कहानी में कथानक, घटनाएँ, आदर्श पात्र सब वितृष्णा पैदा करने लगे। कहानी से जिज्ञासा और मनोरंजन के सरलीकृत फार्मूले की अपेक्षा कहीं अधिक की माँग की जाने लगी। प्रेमचन्द के बाद नये कथाकारों में अमरकान्त की 'दोपहर का भोजन' इस शैली का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। यहाँ नये भाव-सत्य के अनुसार निर्वैयक्तिक यथार्थवादी दृष्टि के साथ कहानी का रूप भी कितना बदला हुआ है। वस्तु और प्रकार की सार्थक उपलब्धि के रूप में 'दोपहर का भोजन' अपनी शिल्पगत सादगी में, सहज बनावट और संकेतों में जीवन की करुण विडम्बना और स्थिति का परिचय करा जाती है। इसमें आर्थिक संकट से जूझते मध्यवर्गीय समाज की पीड़ा का मार्मिक चित्रण केवल दोपहर के समय भोजन के लिए पारिवारिक सदस्यों की उपस्थिति के क्रमशः संकेत द्वारा किया गया है। सिद्धेश्वरी एकमात्र ऐसा सूत्र है जो परिवार की, हर सदस्य की आशंका-पीड़ा को अपनी ममता और पीड़ा से, अपने निजी प्रयत्न और अन्दरूनी सतर्कता से बाँधे रहती है। जीवन की रोजाना की छोटी-छोटी घटनाओं (बल्कि घटनाएँ भी ये कहाँ हैं ?) के ब्योरों द्वारा यथार्थ को गहरी संवेदनशीलता से चित्रित कर दिया गया है। अत्यन्त विषम परिस्थितियों में मानवीय

अस्तित्व को बनाये रखने की आकाँक्षा कहानी में है। कहानी के कथ्य और प्रत्येक पात्र से अमरकान्त का सघन रागात्मक सम्बन्ध रहता है। पहले वह बहुत ही सहज और प्रत्यक्ष ढंग से वस्तु का चुनाव करते हैं और फिर वही सहजता, रागात्मकता उनके शिल्प, अभिव्यक्ति-पक्ष पर भी पड़ी रहती है। 'दोपहर का भोजन' में कहीं कोई असाधारण तत्त्व नहीं है, आरोपित विशेष आग्रह, विशिष्ट भंगिमा या कलात्मकता नहीं है, लेकिन पाठकों को अपनी गिरफ्त में ले लेने की अद्भुत क्षमता है। यहाँ निश्चय ही दोपहर का कठिन तपता समय भी उस संकट, मानवीय वास्तविकता, करुणा और यथास्थिति की पूरी व्यंजना करता है, कहानी के मूल संकेत के लिए उपयुक्त वातावरण बनाता हैं। कहानी कहने का कोई कौशल या काट-छाँट इसमें नहीं है, न दुखियों की दयनीय स्थिति पर आँसू-भरी भावुकता है। राजेन्द्र यादव ने अमरकान्त की सादगी को महज सादगी न कहकर उसे लेखकीय संवेदना की तीव्रता और घनत्व का परिणाम मानते हुए हिन्दी में प्रेमचन्द से भी अधिक अमरकान्त को उस स्तर पर देखा है, जहाँ अभिव्यक्ति के स्तर पर हर प्रसंगान्तर को अस्वीकारने की चेष्टा की गयी है। इसलिए अगर भैरवप्रसाद गुप्त कहते हैं कि "अमरकान्त के बिना आज की नयी कहानी की कोई भी चर्चा अधूरी है···अमरकान्त की कहानियों का निर्माण जीवन्त वस्तु-शिला पर होता है, इसलिए वे पत्थर की तरह ठोस व कांक्रीट की तरह शक्ति-सम्पन्न होती हैं" तो 'दोपहर का भोजन' से इस कथन की सच्चाई अनुभव की जा सकती है।

●

'सेब' नये कथाकार रघुवीर सहाय की एक बहुत छोटी, पर सार्थक कहानी हैं। रघुवीर सहाय की 'सेब', 'खेल', 'लड़के' ऐसी छोटी-छोटी कहानियाँ हैं जिन्होंने हिन्दी कहानी में एक नयी अर्थदिशा का संकेत दिया है। उदाहरण के लिए 'सेब' कहानी इसी एक साधारण घटना के इर्द-गिर्द बुन जाती है कि 'चलती सड़क के किनारे एक विशेष प्रकार का जो एकान्त होता है, उसमें मैंने एक लड़की को किसी की प्रतीक्षा करते पाया···अचानक मुझे उसके हाथ में एक छोटा-सा लाल सेब दिखायी पड़ गया और मैं एकदम हक् से वहीं खड़ा रह गया।' लगता है कि संवेदनशील रचनाकार के आगे बीमार लड़की के हाथ में लाल

सेब देखकर सहसा कोई अनोखा नया सत्य झिलमिलाने लगा और वह उसी एक क्षण की कौंध को कहानी के नितान्त सहज ताने-बाने में बुनने लगा। स्थिति का विरोधाभास जैसे उसके मन में एक मानवीय सत्य—निरपेक्ष मानवीय सत्य को उद्घाटित कर देता है और बिना किसी अतिरंजना, अतिरिक्त सहानुभूति के वह वहीं रुका-ठहरा रह जाता है। अतिरिक्त सहानुभूति से शायद यह कहानी बहुत लम्बी भी हो सकती थी, लेकिन रघुवीर सहाय की कोशिश है कहानी को संक्षिप्त और घटना का यथावत् रखने की। एक अन्य सन्दर्भ में रघुवीर सहाय ने कहा है कि "मुझे तो केवल घटना का वर्णन करना है, केवल यह बताना है कि जब दो व्यक्तियों, दो मानवों के बीच एक सम्बन्ध टूटा और और दूसरा बना तो उसमें क्या कहानी पैदा हो गयी है !" इससे उनकी दृष्टि का पता चलता है। 'जटिल तथा सामान्य किन्तु संगत अनुभवों से जूझने का उपक्रम' उनकी कहानियों में मिलता है। 'सेब' में संवेदन की सूक्ष्मता भी है और प्रतीक की वह सांकेतिक सार्थकता भी जिसे कहीं बाहर से समझने नहीं जाना पड़ता। डॉ० बच्चनसिंह जब कवि रघुवीर सहाय द्वारा 'क्षण-विशेष में भावात्मक विचारों की प्रक्रिया को पकड़ने' की चर्चा करते हुए कहते हैं कि 'रघुवीर सहाय उन्मुक्त और प्रभावशाली क्षणों को टाँक लेने में सतर्क हैं। पर छोटे-छोटे प्यारे लैंडस्केप बनाते हैं' तो 'सेब' कहानी की इसी विशिष्ट सार्थकता और एकाग्रता की ओर संकेत करते हैं। उस एक क्षण को पकड़कर वह जिस तरह उस बीमार लड़की और उसके बप्पा से बिना किसी भावुकता या अतिरंजना के बातचीत करते चले जाते हैं ('फिर मेरे मन ने मुझे फालतू बातें करने से रोक दिया') और अन्ततः उन्हें यह भी लगता है कि संवेदना देना न देना व्यर्थ है, कोई फर्क नहीं पड़ता। "बाप ने मानो सुना ही नहीं। लड़की ने अपने सेब की तरफ देखा, पूछा, 'बप्पा ?' बाप ने बड़े प्यार से मना कर दिया। बीमार लड़की धैर्य से अपने सेब को पकड़े रही। उसने खाने के लिए ज़िद नहीं की"—और कहानीकार को लगता है कि वह वहाँ बिल्कुल फालतू था। अपनी संवेदना, तीखी सांकेतिकता में अपूर्व इस कहानी के पीछे सक्रिय कवि-दृष्टि की पहचान आवश्यक है। जिसे राजेद्र यादव 'गतिहीन अनुभूति के अभिव्यक्ति-संकट का घटाटोप' कहते हैं वह गतिहीन यथार्थ के अन्तः-संवेदित क्षण का मार्मिक अंकन भी तो है।

'पहाड़' के रचनाकार निर्मल वर्मा ने आधुनिकता को, उसकी विषमता और सन्त्रास को, घुटन-पीड़ा को अधिक गहन रूप में चित्रित किया है। इस अर्थ में यथार्थ उनकी कहानियों में भी है, लेकिन यह यथार्थ समाज का स्थूल, बाह्य यथार्थ नहीं है, वह आन्तरिक, अदृश्य और अधिक सूक्ष्म यथार्थ है जो किन्हीं विशेष क्षणों का सच्चा सजीव अनुभव होता है। उनकी कहानियों को इसीलिए 'एकान्तिक अनुभूतियों' की या 'अन्तर्मुखी और व्यक्तिपरक' कहानियों की संज्ञा दी जाती है। उनकी हर कहानी की वस्तु यथार्थ के सूक्ष्म और आन्तरिक स्तर से आती है और उनके हर पात्र के साथ एक खास परिवेश होता है। वे हमारे बीच के होते हुए भी उस विशिष्ट परिवेश के होते हैं। 'पहाड़' उनकी बहुत छोटी, लेकिन बहुत ही संश्लिष्ट कहानी है जिसमें निर्मल वर्मा के कहानीकार की प्रायः सभी विशेषताओं के दर्शन हो जाते हैं। प्रेम और प्रकृति, जो उनके कहानी-संसार के केन्द्र हैं, यहाँ भी मिलते हैं। स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य भाव से सम्बन्धित होते हुए भी कहानी अन्तर्मन की अनुभूतियों—स्वयं उस दम्पति की विस्मयकारी कोमल अनुभूति और साथ ही अबोध बालक के अनछुये विस्मय-कौतूहल और अकेलेपन की ओर मुड़ी है। दम्पति का वर्षों बाद भी आपसी रोमांटिक खिंचाव और उन दोनों की रोमांटिक अनुभूति के क्षणों के बीच बच्चे का अपनी विस्मय की दुनिया में अकेले विचरण कहानी का मूल स्वर कहा जा सकता है। नामवरसिंह ने यह कहकर कि 'निर्मल ने स्थूल यथार्थ की सीमा पार करने की कोशिश की है। उन्होंने तात्कालिक वर्तमान का अतिक्रमण करना चाहा है—' निर्मल की कहानियों की उस बारीकी और कला के सघन रचाव का संकेत करना चाहा है जो निर्मल की पहचान है और 'पहाड़' में बखूबी है। कहानी में निर्मल कहते हैं "दोनों ही शुरू में अनिश्चित थे। हर पतझड़ के संग पूरा एक बरस निकल जाता। समय के बीतने के संग वह (बच्चा) बड़ा होता गया था। पिता अभी युवा थे और माँ···वह अब भी अपने पति को चाहती थी"—कहानीकार स्थिति को निस्संकोच उसके मूल रूप में पकड़ लेता है और यह टिप्पणी भी जड़ देता है कि "मुझे सुखी दम्पती देखने अच्छे लगते हैं और जब वे एक-दूसरे को चाहते हों, तो वह एक रहस्यमय चमत्कार-सा लगता है।" स्वयं निर्मल की तरह दम्पति भी पुरानी स्मृतियों को सँजोते,

साथ रखते चलते हैं। "उन्हें उन स्मृतियों से ही सन्तोष था जो उनकी अपनी थीं···उनके बाहर जो कुछ था, वह बाहर था। उसमें झाँकने की उनमें कोई लालसा नहीं थी। इन स्मृतियों में खास जगह बना ली थी उन पहाड़ों ने"—स्मृतियाँ और अन्दर झाँकना! यही तो निर्मल का स्वयं का अपेक्षित है और इन सबके साथ घुली-मिली प्रकृति, वातावरण, वातावरण की छाया कहानी में पात्रों की आन्तरिक गतियों को व्यक्त करती है। पात्रों की मनःस्थिति प्रकृति से, वातावरण से बँधी है, उसी से उपजती है। निर्मल का चिरपरिचित 'पतझड़ का हरा आलोक और भुरभुराये पत्तों की बोझिल गन्ध' और साथ जुड़ता जाता पहाड़ी प्राकृतिक वातावरण पात्रों की आन्तरिक परतों को खोलता चलता है—बिना इस वातावरण से संपृक्त हुए निर्मल की कहानियों का आस्वाद सम्भव नहीं है। 'पहाड़' अपनी संक्षिप्तता में जीवन की गहन समझ और अनुशासित कला की कहानी है। सांकेतिकता उसका सबल पक्ष है—'देखो बदला कुछ भी नहीं है' पति का उल्लसित-रोमांचित भाव से यह कहना वातावरण, स्मृतियों और वर्तमान भाव-स्थिति को, पात्र के मूड को एकसाथ जोड़ता है। बच्चा सो रहा है, माँ का मन थोड़ी देर के लिए बच्चे के लिए चिन्तित हुआ है लेकिन पुरुष-मन अपने ही उल्लास में खोया है। संक्षेप में भी भिन्न-भिन्न स्थितियों का यह सम्बन्ध-सूत्र अप्रतिम है—मन को उन्हीं पहाड़ों की ओर खींच ले जाता है। एक केन्द्रीय भावभूमि की तलाश में कहानी का प्रचलित ढंग एकदम बदल गया है। यहाँ डॉ० बच्चनसिंह के ये शब्द महत्त्वपूर्ण हैं कि "निर्मल की कहानियों के 'टेक्स्ट' को समझने के लिए 'टेक्स्चर' का समझना आवश्यक हो जाता है। इसमें परम्परानुमोदित जटिल कथावस्तु (प्लॉट) नहीं है। विचार या आयडिया को, जीवनानुभूति को नया अनुक्रम देने का प्रयास नहीं है, आकर्षक आरम्भ और चमत्कारपूर्ण समापन नहीं है। इनमें जीवन की आन्तरिक लय को बाँधने की कोशिश की गयी है, रूप का स्थान रूपायन (फॉर्मेशन) ने ले लिया।"

●

कमलेश्वर यद्यपि अपनी 'राजा निरबंसिया' और 'नीली झील' कहानियों से बहुत प्रसिद्ध हुए, लेकिन 'दिल्ली में एक मौत' भी उनकी बड़ी सीधी-

सादी, लेकिन व्यंजक और मौलिक कहानी है। इस कहानी में कमलेश्वर का विषय-निर्वाचन और मौलिक रचना-कौशल दृष्टव्य है। यह विशेष बात है कि कमलेश्वर ने हिन्दी कहानी के हर नये मोड़ का प्रतिनिधित्व करनेवाली कहानी लिखी है। उनकी सम्पूर्ण कहानियों में अगर भाव-बोध के विविध स्तर और एक क्रमिक विकास हैं तो शिल्प के भी कई स्तर हैं, इसलिए उनकी आरम्भिक कहानियों से आज तक की कहानियों में स्वयं उनकी कहानी का विकास तो मिलता ही है, हिन्दी कहानी के विकास-चिह्न भी मौजूद मिलते हैं। यह इसलिए है क्योंकि उन्होंने वर्तमान जीवन के अन्तर्विरोध को, विडम्बना को, अलग-अलग प्रश्नों-सन्दर्भों को अपनी रचना-वृत्ति से पकड़ा है। "वह अधिकांशतः विभिन्न, पृथक् और अन्तर्विरोधी हैं। वे पहले परम्परा और परिवेश-बोध के प्रति, फिर परिवर्तित सामाजिक सन्दर्भ और यथार्थ के प्रति और फिर रूप और शिल्प के प्रति जागरूक रहे हैं और 'खोयी हुई दिशाएँ' में वे बदली और बदलती हुई मनःस्थितियों के प्रति 'कमिटेड' हैं" (धनंजय वर्मा)। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'दिल्ली में एक मौत' इसी मनःस्थिति की, यथार्थ और शिल्प के प्रति इसी नयी जागरूकता की कहानी है। कमलेश्वर यह मानते हैं कि वर्तमान जीवन की संक्रान्ति को अभिव्यक्त करने के लिए कहानी के फॉर्म को बदलना भी जरूरी है। 'दिल्ली में एक मौत' बड़े ही ब्यौरेबार लेकिन सांकेतिक ढंग से आज के तथाकथित सभ्य, आधुनिक, फैशनपरस्त नगरों में फैलती हुई क्रूर अमानवीयता का रोचक उदाहरण है। 'दिल्ली' का चुनाव अकारण नहीं है। कहानी का आरम्भ ही 'धुन्ध में लिपटी हुई 'दिल्ली' और सिर्फ आवाजों से पता लगनेवाली ज़िन्दगी की हलचल से होता है। ज़िन्दगी की इसी हलचल के बीच में से सेठ दीवानचन्द की अर्थी निकल रही है। शव के साथ कुल सात आदमी, बाकी श्मशान भूमि में स्कूटर, कारों, टैक्सियों की भीड़। शव-यात्रा में सम्मिलित होने के लिए बड़े-जोर शोर से तैयारियाँ हो रही हैं—कपड़ों पर आयरन, बूटपालिश, नये-नये सिले सूट, रंगीन साड़ी, जूड़े में फूल, सरदारजी का साज-सिंगार, टाई की नॉट, और फिर 'यह सूट किधर सिलवाया ?···बहुत, अच्छा सिला है।···लाइनिंग इंडियन है ?' 'इंग्लिश', 'बहुत अच्छा फिटिंग है।' सब मिलकर जहाँ दिल्ली-जैसी महानगरी की भाग-दौड़भरी बनावटी ज़िन्दगी का संकेत करते हैं, वहीं आधुनिक जीवन की उस अमानवीयता को भी उघेड़ते

हैं जो वहाँ घर करती जा रही है। अभी-अभी लाल होंठों में सफ़ेद चमकते दाँत दिखानेवाली स्त्रियों का तो क्या कहना! सबके रूमाल निकल आते हैं, नाक सुरसुराने लगती है और वापस लौटते समय फिर सब खिलखिलाहटों में खो जाता है। कहानीकार अन्त में यह कहकर कि 'अब एक मौत का बहाना बनाकर, आज छुट्टी ही ले लूँ' स्वयं भी उसी 'शव-यात्रा' में शामिल होकर व्यंग्य करता है। अनुभूति की वास्तविकता और अपेक्षित परिप्रेक्ष्य कहानी में लक्ष्य करने योग्य है। पूरी कहानी एक 'रनिंग कमेंट्री' की तरह चलती है जो स्वयं सार्थक है। कमेंट्री के रूप में कहानी जहाँ वास्तविकता का अनुभव कराती है, वहीं उस दूरी, असम्पृक्तता का भी, जिसे मानवीय सम्बन्धों में कमलेश्वर दिखाना चाहते हैं। अपने परिवेश और वातावरण में ही मूल्यों की खोज करनेवाले कमलेश्वर ने आधुनिकता के नाम पर जनमी हुई क्रूरता, अमानवीयता और बेगानेपन को अभिव्यक्ति दी है और यह अभिव्यक्ति बड़ी सांकेतिक है।

●

'वापसी' उषा प्रियम्वदा की चर्चित कहानी है जो 'नयी कहानी' के अर्थ को स्पष्ट करती है और कहानी-कला एवं आज के यथार्थ को सहज स्वाभाविक रूप में देखती है। न कोई गढ़ा गया कथानक, न काव्यात्मक शब्दावली की अतिरिक्त चेतना, न बहुत-सी घटनाएँ, न चरमसीमा, न आरम्भ-अन्त का कोई चमत्कार। बस, एक प्रभाव है जो पूरी कहानी में व्याप्त है। 'दोपहर का भोजन' की तरह यहाँ भी अनायास छोटे-छोटे पारिवारिक चित्र हैं जो एकसाथ मिलकर आधुनिक सन्दर्भ को, पीड़ा और विषाद के एक गहरे बोध को सहज गति के साथ प्रस्तुत करते हैं। हिन्दी की अधिकांश स्वातन्त्र्योत्तर काल की कहानियाँ 'नगर-बोध' से सम्बन्धित हैं। आधुनिकता ने जीवन-मूल्यों का विघटन कर दिया है, आपसी सम्बन्ध बिखर गये हैं, रूढ़ियों और परम्पराओं से अपने को मुक्त करने की छटपटाहट और संघर्ष के बीच आदमी अपरिचय से ग्रस्त होता जा रहा है और अकेलेपन की पीड़ा उसे सालती चली जा रही है। 'वापसी' में इस बोध को, पीड़ा को सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया गया है। एक रिटायर्ड आदमी गजाधर बाबू के द्वारा आदमी के अकेलेपन को, समय के साथ एक पीढ़ी की बदली हुई मानसिकता को, सामाजिक परिवर्तनों

के साथ आदमी के बदलते सम्बन्धों को पूरी सच्चाई से अभिव्यक्ति दी गयी है। वर्षों तक परिवार से अलग रहनेवाले गजाधर बाबू जब परिवार के साथ रहने की आशा-आकांक्षा से अपने ही बनाये हुए सम्पन्न घर में लौट आते हैं तो अपने को असंगत पाते हैं। पीढ़ियों का अन्तर उनकी असहायता और विवशता को, उनकी अपनी व्यर्थता को बड़ी सूक्ष्मता से रेखांकित करता है। वर्षों बाद घर में गजाधर बाबू के प्रथम प्रवेश के चित्र से ही सारे संकेत कर दिये गये हैं—छुट्टी का दिन ! नरेन्द्र का उल्लसित नाच-खेल वसन्ती, का हँसकर दुहरी होना, बहू का बिना घूँघट का उन्मुक्त रूप ! सारा हँसता हुआ वातावरण उन्हें देखकर ही सकपका जाता है। उनके आने से कहीं कोई अन्तर नहीं। यहाँ तक कि वह पत्नी भी अपने में ही व्यस्त, उदासीन और झुँझलाहट में दीखती है जिससे कितनी ही अपेक्षाएँ करके वह आये थे। इसी तरह विभिन्न दृश्यों, चित्रों द्वारा—कभी फीकी चाय मिलने से, कभी घर में अपना अधिकार-भाव न पाकर, नौकरी पर वापस लौटने पर बहू का अमर से सिनेमा का प्रस्ताव, वसन्ती का उछलना, पत्नी का बाबूजी की चारपाई को कमरे से निकलने के लिए कहना आदि प्रसंगों से मुख्य संवेदना को ध्वनित कराया गया है। लेखिका अपनी आलोचनात्मक टिप्पणियों से कुछ नहीं कहती—ये दृश्य ही सबकुछ कहते हैं, जिन्हें देवीशंकर अवस्थी ने गतिशील जीवन के 'स्नैपशॉट' कहा है और इन चित्रों की बात करते हुए नामवरसिंह ने 'उषा प्रियम्वदा की कथा-शैली में एक प्रकार की तल्खी लिये तटस्थता' की बात कही है। गजाधर बाबू के प्रति कहीं भी कोई सहानुभूति जगाने का भाव न होकर प्रमुख है उनके असंगत होने का भाव, जिसे चारपाई के सहज प्रतीक द्वारा सम्प्रेषित किया गया है। 'बैठक में कुरसियों के बीच पड़ी पतली-सी चारपाई' घर में गजाधर बाबू की स्थिति का बोध कराती है। कमरे में जगह कम होने से जिस तरह चारपाई निकाल दी जाती है, उसी तरह गजाधर बाबू भी अपने अस्तित्व को अपने ही घर का एक हिस्सा नहीं बना सके। यहाँ कथ्य बिना किसी भावुकता के, बिना अतिरिक्त प्रयास के सीधे-सादे शिल्प में, चमत्कार और अलंकरण से अलग सहज भाषा में गहरे प्रभाव के साथ व्यक्त किया गया है। लेकिन यह मात्र पारिवारिक विघटन की कथा नहीं है, यह परिवार के माध्यम से आज के जीवन के अकेलेपन की पीड़ा का संकेत है जिसे सन्तुलित दृष्टि और ईमानदारी से प्रस्तुत किया गया है। 'यह अकेलापन बहुत

व्यापक है । अकेलेपन की वापसी सबकी है ।' "यह एक व्यक्ति की अपने ही द्वारा निर्मित अपने ही परिवार से वापसी की कहानी न होकर सारे पुराने मूल्यों से वापसी और एक नयी दिशा में चलने की कहानी है !" (धनंजय वर्मा) इसे सामान्य मध्यवर्गीय भारतीय परिवार की कहानी मात्र मानकर 'असंगतिपूर्ण', अवास्तविक', 'अभारतीय' या फार्मूलाबद्ध रचना कहना बेमानी है ।

●

यहाँ संकलित कहानियों की ऐतिहासिक नवीनता और विशिष्ट सार्थकता पर टिप्पणियाँ इसलिए दी गयी हैं कि कहानी के पाठक कथानक, चरित्र, वातावरण, देशकाल, प्रभावान्विति आदि तत्त्वों की वर्गीकृत सामान्यता से हटकर उस संश्लिष्ट मर्म को पहचान सकेंगे जो असम्बद्ध घटनाओं के बीच एक सार्थक सम्बन्ध की सृष्टि कर जाता है ।